Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2019 GISRRJ | Volume 2 | Issue 6 | ISSN : 2582-0095

संस्कृत काव्य का उद्भव एवं विकास

डॉ. छगन लाल महोलिया
सह आचार्य – संस्कृत, श्री रतनलाल कंवर लाल पाटनी , राजकीय स्नात्तकोत्तर महाविद्यालय, किशनगढ़, अजमेर।

शोधसारांश– महाकाव्य सर्जन सम्बन्धी मानदण्डों के समालोचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि महाकाव्य विद्या साहित्य का एक विशिष्ट सृजित स्वरूप है जिसके सृजन की प्रवृत्ति एक दीर्घकालीन परम्परा के रूप में विद्यमान रही है। महाकाव्यों की सर्जनपरम्परा में प्राय: सर्जनकर्त्ताओं की प्रवृत्ति, पात्र, घटना, परिस्थिति एवं स्वानुभवमूलक अभिप्रायों को सरलतापूर्वक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने की रही है। इसके कारण परम्परागत महाकाव्यों का प्रभाव पर्याप्त रूप मे 'समृद्धि को प्राप्त करता रहा है। वर्तमान में लोकभावना में हो रहे सामाजिक परिवर्तन के कारण महाकाव्यों के प्रति सामान्य जनमानस का रुझान न्यूनता की ओर बढ़ रहा है, अतः महाकाव्य के सर्जन में भी शिथिलता का समावेश दिखाई देता है। उसे वर्तमान युग के चिन्तनीय विषय के रूप में देखा जाना मेरी दृष्टि में सर्वाधिक उचित होगा।
मुख्यशब्द– संस्कृत, काव्य, उद्भव, विकास, साहित्य।

विश्व की प्राचीनतम भाषा के रूप में प्राच्य एवं पाश्चात्य सभी विद्वान् संस्कृत के प्रति नतमस्तक हैं। समग्र विश्व साहित्य में संस्कृत का वाङ्मय सर्वाधिक विपुल है। संस्कृत में काव्य के उद्भव का अन्वेषण कर उसकी एक सुनिश्चित सीमा रेखा का निर्धारण करना सहज नहीं। संस्कृत वाङ्मय में प्राचीनतम ज्ञानराशि के रूप में वेद उपलब्ध होते हैं। वेद अपने आप में एक काव्य है। क्योंकि वह काव्य के लिये वाँछनीय सभी तत्त्वों को अपने आप में समाविष्ट किये हुये हैं। उदाहरण के लिये वेद के मंत्र छन्दोबद्ध हैं तथा उनमें अलंकार एवं रस की अभिव्यक्ति भी कहीं-कहीं स्पष्टतया देखने को मिलती है, 2 जिससे स्पष्ट होता है कि वेदों के निर्माण-काल से पूर्व काव्य अपनी विकसित स्थिति में था।

काव्य के तत्त्वान्वेषण के क्रम में यह कहना भी पर्याप्त समीचीन होगा कि ऋग्वेद में 'कवि' एवं 'काव्य' शब्दों का अनेक बार प्रयोग हुआ है। वेदों के भाष्यकार सायण ने कवि शब्द का तात्पर्य 'क्रान्तद्रष्टा' करते हुये वेद के मंत्रद्रष्टा ऋषियों को भी कवि बतलाया है। इसका मुख्य कारण यह रहा है कि शब्दसाधना एवं भाषा के सामर्थ्य के प्रति उन ऋषियों में सर्वथा सजगता रही है। तात्पर्य यह है कि कवित्व को भाषागत प्रवृत्ति के रूप में ही वेद में अपनाया गया है, किन्तु विषयों के व्यावहारिक उपस्थापन के कारण भावगत प्रवृत्ति भी उसमें समाविष्ट हुई है, अतः वेद में विद्यमान कवित्व भाषा एवं भाव की रमणीय प्रस्तुति है।

काव्य के उद्भव के सन्दर्भ में वैदिक मत

काव्य की उत्पत्ति के विषय में एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण हमें ऋग्वेद के दशम मण्डल में उपलब्ध होता है, जहाँ वाणी की तीन अवस्थाओं के क्रमिक विकास से कवि द्वारा काव्य रचना की व्यावहारिक प्रक्रिया को भलीभाँति स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। यह मन्त्र निम्न प्रकार है—

पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्त्ति तां गन्धर्वोऽवहद् गर्भेऽन्तः।
तां द्योतमानां स्वयं मनीषां ऋतस्य पादे कवयो निपान्ति।।'

प्रकृत में यह मन्त्र सूर्यपरक है किन्तु अनायास ही कवि की आविष्ट वाणी पर घटित हो जाता है। वाणी के उद्गम के सन्दर्भ में यहाँ बताया गया है कि प्रतिभा की अग्नि में तपकर कवि पतङ्ग अर्थात् सूर्य का रूप धारण कर लेता है। अपने दैवी आवेश के द्वारा वह जगती के कण-कण में नव जीवन फूँक देता है। प्रतिभा रूपी विद्युत की प्रावाहिकता से उसके अन्त:करण में वाणी के अङ्कुर अंकुरित होने लगते हैं। यह वाणी प्राथमिक अवस्था है। जिसे शब्दशास्त्रज्ञों ने परा वाणी के नाम से पुकारा है। 2

प्रतिभा की क्रियान्विति में द्वितीय अवस्था में कवि गन्धर्व रूप हो जाता है। अर्थात् गोरूप वाणी को धारण करने वाला बन जाता है। इस स्थिति में उसकी वाणी वर्णों में व्याकृत होने के लिये अग्रसर होती है। वाणी की यह अवस्था मध्यमा है, अतः इसे मध्यमा वाणी कहा जाता है। प्रतिभा की

तृतीय अवस्था में पहुँचकर कवि की वाणी सर्वाङ्गपूर्ण बन जाती है। वर्ण-पद- वाक्य के रूप में व्यक्त होती है तथा अपनी स्वर लहरियों से संसार में सरसता का आपादन करती हुई 'ऋत' अर्थात् लोक में विद्यमान सत्य तत्त्व को तरंगित कर देती है।

इस प्रकार 'ऋत' रूप रस को विश्व में प्रवाहित करना ही कवि का लक्ष्य है, जो वाणी की अन्तिम वैखरी अवस्था में पूर्ण होता है।'

उक्त मंत्र से यह आशय स्पष्ट हुआ कि कवि जब कवित्व के लिये प्रेरित होता है तो सर्वप्रथम अपने अन्त में प्रतिभारूपी अग्नि को प्रज्ज्वलित होते हुये देखता है। उस दैवी अग्नि के जल उठने पर कवि की भौतिकता या लौकिकता उसमें भस्म हो जाती है। कवि इसके समनन्तर ही जीवन के आदि स्रोत रस से तादात्म्य स्थापित कर लेता है क्योंकि वह अलैकिक होता है। -2 कवि उसके तेज से आविष्ट होकर पतङ्ग अर्थात् सूर्य की तरह लोककल्याणार्थ अपनी वाणी रूपी रश्मियों का प्रसार करता है तथा उनका स्पर्श होते ही पाठक कवि की क्रान्तदर्शिता से अभिभूत हो जाता है।

अथर्ववेद भी इस प्रक्रिया का समर्थन करता है-

"अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।

वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्।।"3

अर्थात् अपूर्व प्रतिभा तत्त्व के द्वारा प्रेरित कवि वाणी जगत् के रहस्यमय स्वरूप को अनावृत करने में समर्थ होती है। वस्तु तत्त्व के अनावरण में व्याकृत हुई कविवाणी का जहाँ पर्यवसान होता है, वही ब्रह्म है।

उपर्युक्त उल्लेख से यह प्रमाणित होता है कि वैदिक काल में कवि एवं उसकी कविता का एकमात्र लक्ष्य ब्रह्म अर्थात् ईश्वर था। अतः देवस्तुतियों के रूप में काव्य का प्रथम प्रादुर्भाव हुआ। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि वैदिक सूक्त ही काव्य है तथा सम्पूर्ण वेद एक काव्यसंकलन।

लौकिक काव्य का प्रादुर्भाव

लौकिक काव्य वैदिक काव्य के सहगामी रूप में वैदिक काल में विद्यमान थे। ऐसा नहीं है कि लौकिक काव्य की अवतारणा बाद में हुई हो। इसके संकेत हमें प्राथमिक रूप में अथर्ववेद में उपलब्ध होते हैं, जहाँ यह बताया गया है कि वैदिक काल में भी इतिहास पुराण गाथा नाराशंसी आदि विद्यमान थे। चूँकि वेद ईश्वर की कृति थी, अतः उसकी भाषा से इनकी भाषा में पृथक्ता इसलिये थी क्योंकि ये मनुष्य द्वारा सृजित थे। उस काल में वैदिक भाषा लोक भाषा नहीं थी अपितु वेदों की भाषा से स्वल्प अन्तर उसमें अवश्य विद्यमान रहा होगा, अन्यथा इनके अस्तित्व की उस काल में कल्पना निराधार हो जायेगी। अथर्ववेद का यह मंत्र निम्नानुसार है —

"स बृहतीं दिशमनुव्यचलत्। तमितिहास: पुराणं च गाथाश्च नारा शंसीश्चानुव्यवलत्। इतिहासस्य चवै गाथजां च नारा शंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।"

अथर्ववेद का यह उल्लेख निराधार नहीं है, क्योंकि ऋग्वेद में ही हमें सर्वप्रथम 'गाथा' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है—

" प्र कृतान्यृजीषिणः, कण्वा इन्द्रस्य गाथया।

मदे सोमस्य वोचत।।''2

यहाँ ऋषि कण्व इन्द्र के विषय में स्वरचित गाथा का उल्लेख कर रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि वेद के मंत्रद्रष्टा ऋषि वैदिक मंत्रों के रचयिता तो नहीं थे किन्तु गाथा इत्यादि लौकिक काव्यों के रचयिता अवश्य थे। कण्व के अतिरिक्त अन्य गाथाकारों में भृग्वंगिरस का उल्लेख भी ऋग्वेद में दो स्थानों पर प्राप्त होता है। जिससे यह स्पष्ट होता है कि भृग्विंगिरस गोत्र के ऋषियों ने भी गाथाओं की रचना की थी।

ऋग्वेद में विश्वामित्र को भी 'गाथिन्' शब्द से अभिहित किया है, जिसका अर्थ है-गाथाओं की रचना करने वाला।

शतपय एवं गोपथ ब्राह्मण ग्रन्थों के अनेकत्र निर्देशों से यह ज्ञात होता है कि वैदिक काल में यज्ञ, पर्व, उत्सव, विवाह आदि के अवसर पर गाथायें सुनायी जाती थी। श्रौतसूत्रों में प्रतिपादित मतानुसार सीमन्तोन्नयन के अवसर पर वीर रस की गाथायें सुनाने की प्रथा विद्यमान थी। 2

गाथाओं की भाँति ही नाराशंसी के ऐतिह्य के विषय में भी कतिपय जानकारी उपलब्ध होती है। ऋग्वेद में 'नराशंस' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। गाथा एवं नाराशंसी के अतिरिक्त 'आख्यान' शब्द का प्रयोग भी ऋग्वेद में किया गया है। निरुक्त तथा बृहद्देवता ग्रन्थों में 'आख्यान' की विशद विवेचना भी प्राप्त होती है जो यह लक्षित करती है कि लौकिक काव्य का मूल स्वरूप वैदिक काल में अवश्य था। यह एक विडम्बना है क़ि वेद आज उपलब्ध हैं किन्तु वैदिक काल के वे गाथा, नाराशंसी, आख्यान आदि लौकिक काव्य उपलब्ध नहीं है।

'इतिहास' एवं 'पुराण' शब्दों का उल्लेख यद्यपि वेद में नहीं प्राप्त होता, किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में इनके सन्दर्भ अनेक स्थलों पर प्राप्त होते हैं। शतपथ, जैमिनीय तथा बृहदारण्यक में 'इतिहास' शब्द आया है। इतिहास एवं पुराण दोनों समकोटि के ग्रन्थ हैं। गोपथ ब्राह्मण में दोनों को वेद के समकक्ष मानकर इतिहासवेद तथा पुराणवेद संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। शांखायन श्रौतसूत्र ने इनको भी वेद ही बतलाया है। इस आधार पर यह कहना समीचीन है कि ब्राह्मण काल तथा सूत्रकाल में इतिहास व पुराण नामक काव्य भी विद्यमान थे।

इतिहास एवं पुराण लौकिक काव्य ही थे इसका संकेत न्यायसूत्र भाष्यकार वात्स्यायन ने निम्न शब्दों में किया है—

" यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य, लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य, लोकव्यवहार व्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः। " ॥

काव्यमीमांसा के कर्त्ता आचार्य राजशेखर ने इतिहास को दो प्रकार का माना है - परिक्रिया एवं पुराकल्प। परिक्रिया वह है जो घटना विशेष के कारण तत्काल कवित्व के माध्यम से लिख दिया जाता है जबकि पुराकल्प पहले से जनश्रुति में प्रसिद्ध कथाओं का ऐतिहासिक कालक्रम से किया गया संकलन होता है।

लौकिक भाषा की प्रवृत्ति एवं उसमें काव्य का अनुप्रवेश

लौकिक भाषा जिसका स्वरूप वैदिक संस्कृत से भिन्न था, का जन्म प्राय: निरुक्तकार यास्क से पूर्व हो चुका था, क्योंकि यास्क के निरुक्त में ही सर्वप्रथम हमको यह जानने को मिलता है कि भाषा के दो रूप उस समय विद्यमान थे। वैदिक रूप को अन्वध्याय कहा जाता था, जबकि लौकिक रूप को केवल भाषा शब्द से ही व्यवहृत किया जाता था। उदाहरणार्थ यास्क के निम्नांकित वचन पठनीय है—

'तेषामेते चत्वार: उपमार्थे भवन्ति। इव इति भाषायां च अन्वध्यायं च। न इति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम् उभयमन्वध्यायम्।'2

'नूनम् इति विचिकित्सार्थियो भाषायाम्। उभयमन्वध्यायं विचिकित्सार्थीयश्च पद पूरणश्च।

यहाँ दोनों स्थलों पर भाषा शब्द उस लौकिक संस्कृत भाषा के लिये आया है, जो पाणिनि से पूर्व प्रचलित थी। इस लौकिक संस्कृत के स्वरूप को यास्क जानते थे अत: उन्होंने निर्देश किया है—

"यथो एतद् विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति लौकिकेष्वप्येतत्। ""

तात्पर्य यह है कि लौकिक भाषा पहले से ही विद्यमान थी, अतः यह नहीं मानना चाहिये कि लौकिक संस्कृत पाणिनि के बाद की भाषा है। यास्क के वक्तव्यों से दूसरा तथ्य यह भी जाना जाता है कि लौकिक संस्कृत व वैदिक संस्कृत के शब्दों में अर्थगत अन्तर विद्यमान था।

इस लौकिक भाषा में काव्य का अवतरण महर्षि वाल्मीकि से हुआ। क्रौञ्चवध की घटना से आदि कवि वाल्मीकि के हृदय में उत्पन्न शोक ही श्लोक रूप में परिणत हो गया। इस तथ्य को इंगित करते हुये ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन लिखते हैं-

"काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तदा चादिकवेः पुरा।

क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ: शोक: श्लोकत्वमागत:।। "2

वाल्मीकि के मुख से लौकिक काव्य के अवतरण के पश्चात् संयोगवश नारद के परामर्श पर वाल्मीकि ने रामायण की रचना की जिसे लौकिक संस्कृत भाषा का आदिकाव्य या प्रथम काव्य कहा जाता है। यद्यपि वाल्मीकि विरचित रामायण लौकिक संस्कृत में उपनिबद्ध आदिकाव्य था, किन्तु इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उससे पूर्व काव्य का अस्तित्व नहीं रहा होगा, क्योंकि हरिवंश पुराण में पुराणकार वेदव्यास ने इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख किया है, कि वाल्मीकि द्वारा रामायण की रचना से पूर्व राम की कथा सूत, चारण एवं कुशीलवों द्वारा गायी जाती रही थी। वाल्मीकि ने तो लोककथा के रूप में देश के अलग-अलग अंचलों में गाये जाने वाले रामकथा के आख्यानों की एक बड़ी धरोहर को अपनी कवित्व क्षमता से सुसम्बद्ध साहित्यिक स्वरूप प्रदान करने में सफलता प्राप्त कर ली, जिसके बल पर रामकथा अमर हो गयी।|

हरिवंश पुराण के उपर्युक्त उल्लेख से इस लोकप्रचलित मिथ्या भ्रान्ति का भी निवारण हो जाता है कि वाल्मीकि ने रामायण की रचना राम के शासन काल में ही कर ली थी। अस्तु, वाल्मीकि का यह अवदान रहा कि लौकिक संस्कृत काव्य के रूप में रामायण हमें उपलब्ध हुआ। पाणिनि से पूर्व काल की रचना होने के कारण इसमें अनेक अपाणिनीय प्रयोग उपलब्ध होते हैं, अतः विद्वानों ने इस कव्य को आर्ष काव्य भी माना है। 2

लौकिक काव्य परम्परा का उद्भव

लौकिक काव्य परम्परा का उद्भव रामायण से माना जाता है, क्योंकि उससे पूर्व का कोई भी लौकिक काव्य आज हमारे समक्ष उपलब्ध नहीं है। यद्यपि काव्यपरम्परा तो पूर्व में विद्यमान रही होगी, किन्तु जहाँ तक लिपिबद्ध काव्य का प्रश्न है वह रामायण के पश्चात् ही लिखा जाने लगा होगा।

वाल्मीकि रचित रामायण है के अनुकरण पर इस लौकिक काव्यपरम्परा में शताब्दियों तक अनेक रामायण काव्य लिखे गये। जिनका उल्लेख करना यहाँ शोध की दृष्टि से उचित होगा-

(1) योगवसिष्ठ रामायण

(2) अध्यात्म रामायण

(3) आनन्द रामायण

(4) अद्भुत रामायण

(5) मन्त्र रामायण

(6) भुशुण्डि रामायण

(7) आदि रामायण

(8) बाल रामायण

(9) मूल रामायण

(10) पद्म रामायण

(11) कम्ब रामायण

(12) कृत्तिवासी रामायण

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने रामचरित मानस में 'रामायन सत कोटि अपारा' कह कर यही संकेत किया है, कि लौकिक काव्य के क्षेत्र में सर्वप्रथम रामायण सृजन की ही परम्परा विद्यमान थी। यह परम्परा कुछ विद्वानों के मत में वाल्मीकि से पूर्व भी विद्यमान रही थी, क्योंकि महाभारत में एक स्थान पर भार्गव च्यवन द्वारा रामायण की रचना का उल्लेख मिलता है साथ ही इन विद्वानों का यह भी मानना है कि प्राचीन ग्रन्थों में नारदकृत संवृतरामायण, अगस्त्यकृत अगस्त्यरामायण, लोमशकृत लोमश रामायण, सुतीक्ष्णकृत मंजुल रामायण, अत्रिकृत सौपद्म रामायण, शरभंगकृत सौहार्द रामायण इत्यादि अनेक रामायणों के उल्लेख मिलते हैं, जिनके रचयिता ऋषि वाल्मीकि से पूर्ववर्ती थे।

यद्यपि इन विद्वानों का यह मत अभी प्रामाणिक सिद्ध नहीं हुआ है, फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि वाल्मीकि के परवर्ती रचनाकारों की 'रामायण' नामक रचनायें इस परम्परा की पुष्टि अवश्य करती हैं।

रामायण के पश्चात् द्वितीय आर्षकाव्य 'महाभारत' उपलब्ध होता है जो तात्कालिक इतिहास की प्रस्तुति करता है। कालखण्ड की दृष्टि से रामायण उपनिषत्काल की रचना है, क्योंकि रामायण के पात्र वैदेह जनक का उल्लेख उपनिषदों में अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। इसी प्रकार महाभारत सूत्रकाल की रचना है, क्योंकि आश्वलायन गृह्यसूत्र में निम्नांकित पंक्ति उपलब्ध होती है—

"सुमन्तुजैमिनिवैशम्पायनपैलसूत्रभाष्यभारतमहाभारतधर्माचार्याः।"[1]

इसके अतिरिक्त बोधायन धर्मसूत्र में श्रीमद्भगवद्गीता का 'स्वधर्मे निधनं श्रेयो परधर्मो भयावहः'[2] श्लोक भी अविकल रूप से उद्धृत हुआ है।

इससे स्पष्ट होता है कि लगभग दो सौ वर्षों से भी अधिक समय तक रामायण सृजन की परम्परा चलती रही। तत्पश्चात् लिखा गया वेदव्यास का महाभारत अपने कवित्व की प्रौढ़ता, उत्कर्ष एवं प्रतिभातिशय के कारण भारतीय साहित्य का विश्वकोश, पञ्चम वेद आदि संज्ञायें प्राप्त कर सका। महाभारत में कथात्मक काव्य की उपनिबद्धता में प्रधान वस्तु एवं उसके साथ आनुषंगिक वस्तु का नियोजन तो उपलब्ध होता ही है, आख्यान - साहित्य एवं स्तोत्र - साहित्य भी इसमें पूर्णरूपेण समाया हुआ है, जो काव्य के मूल स्वरूप को स्पष्ट करने में सक्षम है।

महाभारत में अतिरिक्त उपलब्ध समग्र पुराणसाहित्य भी वेदव्यास की ही देन है किन्तु यहाँ यह विचारणीय है, कि जब महाभारत के संदर्भ में ही एक व्यक्ति का कर्त्तत्व होना शंकास्पद है तो इतने विशाल पुराण साहित्य के कर्त्ता के रूप में वेदव्यास का व्यक्तित्व संदिग्ध सा हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेदव्यास ने सम्भवतः पुरातन पुराण साहित्य का संकलन एवं व्यवस्थापन किया था, क्योंकि पुराण साहित्य वेदव्यास से पूर्व भी विद्यमान था, इसका संकेत हमें उनके पूर्ववर्त्ती अथर्ववेद में उपलब्ध हो जाता है—

" ऋच: सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः।। "4

अथर्ववेद के अतिरिक्त उपनिषद् साहित्य भी इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि वेदव्यास से पूर्व पुराण साहित्य विद्यमान था —

(1) "अस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः पुराणम्। 1

(2) "ऋग्वेदं भगवोऽध्येभि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्| "2

स्वयं महाभारतकार वेदव्यास भी पुराणों को वेद का उपबृंहण करने वाला बतलाते हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि पुराण वैदिक काल एवं महाकाव्यकाल के बीच की कड़ी है—

"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।'
" पुराणं धर्मशास्त्रं च वेदानामुपबृंहणम्॥'

इस प्रकार लौकिक काव्य महाकाव्यकाल या आर्षकाव्यकाल तक अपने चरमोत्कर्ष पर था। इस काव्य को स्वरूपतः स्पष्ट करने में भी पुराणों की ही भूमिका अग्रगण्य रही। आदि आग्नेय महापुराण में हमें सर्वप्रथम काव्य का लक्षण उपलब्ध होता है।

काव्य का लक्षण

अग्निपुराण का काव्य लक्षण काव्य के सभी महत्त्वपूर्ण अंगभूत तत्त्वों को आधार मानकर प्रस्तुत किया गया है—

"संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद् दोषवर्जितम्॥
यो निर्वेदश्च लोकश्च सिद्धमर्थादयोनिजम्।

काव्य के उपर्युक्त लक्षण में इष्टार्थ, अलंकारयुक्तता, गुणयुक्तता, दोषापहार का उल्लेख किया गया है। इन्हीं चार मुख्य तत्त्वों को लेकर परवर्ती काल में काव्य की विवेचना का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिससे संस्कृत काव्यशास्त्र अस्तित्व में आया।

संस्कृत काव्यशास्त्र के एक परवर्ती आचार्य राजशेखर ने काव्य एवं काव्य शास्त्र की ऐतिहासिकता का चिन्तन करके काव्य की तथा काव्यशास्त्र की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उन्होंने लिखा है कि ब्रह्मा के शिष्य काव्यपुरुष ने काव्यों का अध्ययन कर काव्यशास्त्र ब्रह्मा से पढ़ा तथा फिर अपने अठारह शिष्यों को पढ़ाया। -

आचार्य राजशेखर का उक्त सिद्धान्त मनगढन्त या कपोल कल्पित प्रतीत होता है।

काव्य के स्वरूप एवं लक्षण - विवेचन को लेकर काव्यशास्त्र के प्राथमिक प्रणयन के संदर्भ में 'अलंकारशेखर' में आचार्य केशव मिश्र ने निम्नांकित पंक्ति लिखी है-

"अलंकारविद्यासूत्रकारो भगवान् शौद्धोदनि: काव्यस्य स्वरूपमाह। "3

इस पंक्ति से यह ज्ञात होता है कि काव्य के स्वरूप के विषय में सर्वप्रथम विचार शौद्धोदन नामक आचार्य ने किया था। इन्होंने काव्य शास्त्र के प्रथम ग्रन्थ के रूप में 'अलंकारसूत्र' ग्रन्थ की रचना की थी।

यहाँ यह ज्ञातव्यं है कि आचार्य शौद्धौदनि एवं अलंकारसूत्र दोनों विषय में ही कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह मत मनगढ़न्त नहीं हो सकता। अलंकारसूत्र के सम्बन्ध में एक सूक्ष्म संकेत आचार्य बलदेव विद्याभूषण द्वारा रचित साहित्यकौमुदी में उपलब्ध होता है जो निम्न प्रकार है-

"काव्य प्रकाशस्य द्वावंशौ कारिका वृत्तिश्च। भरतमुनिप्रणीता या कारिका सा अलङ्कारसूत्रनाम्ना व्यवह्रियते। मम्मट प्रणीता या वृत्तिः सैव काव्यप्रकाशनामभाक्।'

इस उल्लेख से यह समझ में आता है कि भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' की रचना से पूर्व कोई अलंकारसूत्र ग्रन्थ लिखा, जिसके सूत्र उन्होंने नाट्यशास्त्र में भी दिये थे। उनको मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में ग्रहण किया, जैसे भरत का रस विषयक सूत्र।

सम्भव है कि भरत का ही नाम शौद्धोदनि रहा हो अथवा भरत से पूर्व शौद्धोदनि का अलंकार सूत्र प्रचलित रहा हो। अस्तु, सम्भावनायें कुछ भी हो सकती है तथापि यह तो स्पष्ट है कि भरत के समय से काव्यशास्त्र का पल्लवन प्रारंभ हुआ जो पण्डितराज जगन्नाथ तक अपने प्रौढ़ प्रकर्ष को प्राप्त कर सका। संस्कृत काव्यशास्त्र की इस दीर्घ अवधि में काव्य के स्वरूप का व्यापक चिन्तन हुआ, जिससे विविध काव्यलक्षण अस्तित्व में आये। काव्यसमालोचना की दृष्टि से यहाँ उन काव्यलक्षणों पर दृष्टिपात करना उचित होगा।

संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रतिपादित काव्यलक्षण

संस्कृत काव्यशास्त्र के आदि आचार्य भामह ने सर्वप्रथम काव्य का स्वतन्त्र लक्षण प्रस्तुत किया जो अग्निपुराण के काव्यलक्षण की कोटि से नितान्त भिन्न था।

इसमें उन्होंने केवल शब्द एवं अर्थ दोनों मूलभूत तत्त्वों के सहभाव की आवश्यकता प्रतिपादित की थी। यह काव्यलक्षण निम्न प्रकार है-

" शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"

भामह की अवधारणा में काव्य वह था जिसमें साहित्य अर्थात् शब्द एवं अर्थ के समुचित समन्वय की व्यवस्था हो। भामह का यह लक्षण स्वरूपगत है किन्तु इसमें अङ्गाङ्गीभाव की कल्पना नहीं है, क्योंकि अपने काव्यालङ्कार में भामह गुण, अलंकार इत्यादि उन काव्यांगों का विवेचन करते हैं जिनका इस लक्षण में कहीं संकेत नहीं किया है।

भामह के परवर्ती आचार्य दण्डी ने काव्य का स्वतंत्र लक्षण तो प्रस्तुत किया है, किन्तु उस पर अग्निपुराण के काव्यलक्षण का पूर्ण प्रभाव विद्यमान रहा है। दण्डीकृत काव्यलक्षण निम्न प्रकार है-

"तै : शरीरं काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः।

शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।।'

दण्डी ने इष्टार्थ एवं सालंकारता का ग्रहण अग्निपुराणोक्त लक्षण से ही किया था उन्होंने काव्य को शरीर बतला कर प्रथम बार काव्य एवं काव्यतत्त्वों में अंगांगीभाव की कल्पना की। इसके साथ ही दण्डी ने गुणापेक्षिता को भी यहाँ 'तै: ' पद द्वारा व्यक्त किया है। दोषापहार के संदर्भ में उनकी मान्यता भी हमें काव्यादर्श में उपलब्ध होती है।

" तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।

स्याद् वपुः सुन्दरमपिश्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ " 3

यहाँ दण्डी का यह स्पष्ट मत है कि काव्य में सूक्ष्म सा दोष होने पर भी वह दोष काव्य के सौंदर्य को कम कर देता है, अत: काव्य में स्वरूप दोष की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। काव्य के संदर्भ में दण्डी की सौंदर्यसापेक्ष दृष्टि यहाँ प्रथम बार व्यक्त हुई है। इससे पूर्व काव्य में सौंदर्य तत्त्व के प्रति किसी भी आचार्य की दृष्टि नहीं पहुँची थी।

दण्डी के परवर्ती आचार्य वामन ने भामह के शब्द एवं अर्थ तत्त्वों में निहित साहित्य भाव के प्रभावी संरक्षण हेतु गुण एवं अलंकार को आवश्यक मानते हुये मिला-जुला लक्षण प्रस्तुत किया-

"काव्य शब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयो शब्दार्थयोर्वर्तते।"1

वामन ने भले ही काव्यलक्षण की प्रस्तुति में कोई नूतनता नहीं समाविष्ट की किन्तु, उन्होंने काव्य में अलंकार को सौंदर्य के रूप में देखा था, अत: उन्होंने इसका निर्देश करते हुये लिखा-

'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः।।"2

वामन ने एक और महत्त्वपूर्ण कार्य किया। वह यह था कि दण्डी ने जिस काव्य को शरीर बतलाया था, उसमें उन्होंने आत्मतत्त्व का अन्वेषण किया तथा प्रथम बार यह सिद्ध कर दिया कि काव्य का आत्मभूत तत्त्व रीति है जो काव्य पदों में काव्यगुणों द्वारा विशिष्ट प्रतीयमान होता है-

"विशिष्टा पदसंघटना रीति:। विशेषो गुणात्मा पदम्।

रीति के वैशिष्ट्य को उपस्थापित कर वामन ने ही सर्वप्रथम यह सिद्ध कर दिया था कि काव्य में शब्द एवं अर्थ का प्रयोग मात्र औपचारिक है तथा गुणों के अभाव में केवल शब्द एवं अर्थ काव्य नहीं हो सकते।

वामन के परवर्ती रुद्रट ने भामह के मत का ही प्रस्तुतीकरण अपने शब्दों में किया है, जिसमें कोई नवीनता नहीं दृष्टिगोचर होती। काव्यानुशासन ने जो लक्षण दिया वह भी मूलतः अग्निपुराणोक्त लक्षण पर ही आधारित है। आनन्दवर्धन ने अलंकार एवं रस को सूच्य मानते हुये अपने काव्यलक्षण में सहृदयाह्लाद की अपेक्षा को आवश्यक बतलाया है। आनन्दवर्धनकृत काव्यलक्षण निम्न प्रकार है-

"सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।"

आनन्दवर्धन का काव्यलक्षण परम्परागत लक्षणों से भिन्न कोटि का था, किन्तु यहाँ आनन्दवर्धन ने आह्लाद से रसापेक्षिता को जितना वाँछनीय बतलाया उतना अलंकारापेक्षिता को नहीं। इसे समझते हुये उनके अनुयायी आचार्य मम्मट अलंकारों की अनपेक्षिता का उल्लेख अपने काव्य लक्षण में स्पष्ट रूप से किया तथा रस की गुणों में नैष्ठिकता स्वीकार करते हुये गुणापेक्षी पक्ष को स्वीकार किया-

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। "2

मम्मट के परवर्ती आचार्य कुन्तक गुणों एवं अलंकारों के पक्षपात से पृथक् रहे। उन्होंने आनन्दवर्धन की भाँति अपने काव्यलक्षण की नींव रखी। जिस प्रकार आनन्दवर्धन ने सहृदयहृदयाह्लाद को काव्य में अपरिहार्य बतलाया था, ठीक उसी प्रकार आचार्य कुन्तक ने वक्रता को काव्य में अपरिहार्य बतलाया तथा आह्लाद को वक्रता में निष्ठ स्वीकार किया-

" शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।।"3

कुन्तक के काव्यलक्षण में पूर्वापेक्षा नवीनता है। साथ ही उन्होंने 'बन्ध' शब्द का प्रथम बार प्रयोग कर यह सुनिश्चित कर दिया कि काव्य छन्दोबद्ध रचना ही हो सकती है। छन्दोरहित रचना को काव्य की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता।

कुन्तक के परवर्ती आचार्य विद्यानाथ ने कुन्तक के मत के विरुद्ध स्पष्ट शब्दों में कहा कि छन्दोबद्ध पद्य ही नहीं छन्दोरहित गद्य भी काव्य हो सकता है। तात्पर्य यह है कि उन्होंने 'बन्ध' को छन्दोबद्धता से पृथक् करते हुये सृजन मात्र का द्योतक माना तथा अपने लक्षण में इसे समझाने के उद्देश्य से गद्य-पद्य दोनों की काव्यता प्रतिपादित की-

“गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः ।। "

कुन्तक के पश्चात् होने वाले प्रसिद्ध आचार्य विश्वनाथ ने भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुये प्रकारान्तर से यह कहा कि काव्य के लिये वाक्य योजना आवश्यक है वह गद्य या पद्य किसी भी शैली में हो सकती है। विश्वनाथ ने रस को काव्य का आत्मभूत तत्त्व भी प्रतिपादित किया, जिसका तात्पर्य यह था कि रस- सन्निवेश के अभाव में गद्य एवं पद्य दोनों में ही काव्यत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता था। विश्वनाथ का काव्य लक्षण निम्न प्रकार है-

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। 2

पूर्वाचार्यों में ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन तथा ध्वनिप्रतिष्ठापक - परमाचार्य मम्मट ने रस को व्यंग्य माना था, जो अर्थ का ही एक विशिष्ट प्रकार है। आचार्य विश्वनाथ ने भी रस को व्यंग्य मानने की भूल की अतः, वे रस को काव्य की आत्मा तो कहना चाहते थे, किन्तु उनका रस मम्मट प्रतिपादित रसध्वनि से पृथक् नहीं है।

अतः परवर्त्ती आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने रस तत्त्व की व्यंग्यता को चुनौती दी। उन्होंने रस को व्यंग्य तो माना किन्तु उसे शब्द निष्ठ कहकर यह बतलाया कि काव्य में केवल अर्थतत्त्व की एकांगिता स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि शब्द तत्त्व ही उस अर्थ तत्त्व का भी मूल आधार है जिसे काव्य की आत्मा समझा जा रहा है। पंडितराज के काव्य लक्षण से इसकी सहज स्पष्टता हो जाती है-

" रमणीयार्थप्रतिपादक : शब्द: काव्यम्।" "

इस प्रकार काव्यशास्त्र में लम्बे समय तक काव्य को स्वरूपतः समझने एवं समझाने की प्रक्रिया चलती रही तथा इसके साथ ही व्यावहारिक रूप में काव्य का विकास भी होता रहा।

संस्कृत काव्य का विकसित स्वरूप

संस्कृत काव्य ई. पू. काल में विद्यमान था। अष्टम शताब्दी ई. पू. के आचार्य पाणिनि वैय्याकरण होने के साथ-साथ श्रेष्ठ काव्यकार भी थे। आचार्य राजशेखर ने अपने सूक्तिग्रन्थ में पाणिनि को 'जाम्बवतीजय' नामक काव्य का प्रणेता स्वीकार किया है-

" नम: पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयम्।।”2

राजशेखर के इस पद्य को सूक्तिमुक्तावली के रचयिता जल्हण ने प्रकारान्तर से प्रस्तुत किया है-

"स्वस्ति पाणिनये तस्मै यस्य रुद्रप्रसादतः।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयम्।। "3

सुवृत्ततिलक के रचयिता आचार्य क्षेमेन्द्र ने पाणिनि के उपजाति छन्दः प्रयोग की प्रशंसा निम्न शब्दों में की है, जिससे पाणिनि का वैय्याकरण होने के साथ-साथ कवि होना भी सिद्ध होता है—

"स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः।।
रुद्रटकृत काव्यालंकार के टीकाकार नभिसाधु ने पाणिनि की काव्यरचना का नाम 'पातालविजय' बतलाया है तथा उसके एक पद्यांश 'सन्ध्यावधूं गुह्यकरेण भानु:' को भी उद्धृत किया है। टीकाकार ने 'गुह्य' शब्द को पाणिनीय व्याकरण के आधार पर अशुद्ध बतलाते हुये पाणिनि की आलोचना भी की है।
इसी प्रकार अमरकोश के टीकाकार रायमुकुट ने जाम्बवतीजयम् के उस है पद्य को उद्धृत किया है, जिसमें इकारान्त 'पृषन्ति' शब्द का प्रयोग किया गया यह पद्यांश निम्न प्रकार है-
" पयः पृषन्तिभिः स्पृष्टा वान्ति वाता: शनै: शनैः।। " 2
पुरुषोत्तमदेव ने अपनी भाषावृत्ति में तथा आचार्य शरणदेव ने अपने ग्रन्थ दुर्घटवृत्ति में भी पाणिनिकृत जाम्बवतीजयम् काव्य से उद्रण प्रस्तुत किये है। दुर्घट वृत्ति में गृहीत पद्य जाम्बवतीजयम् के अठारहवें सर्ग से लिया गया है। यह पद्य निम्न प्रकार है-
'त्वया सहार्जितं यच्च संख्यं पुरातनम्।
चिराय चेतसि पुरस्तरुणीकृतमद्य मे। "3
इस पद्य के साथ उनका निर्देश है- 'जाम्बवतीजये पाणिनिनोक्तं .... इत्यष्टा दशसर्गे।' इस उल्लेख के आधार पर ही विद्वान् इसे महाकाव्य मानते हैं, क्योंकि इससे यह तो स्पष्ट ही है कि जाम्बवतीजयम् में कम से कम अठारह सर्ग अवश्य रहे होंगे॥
पाणिनि चाहे कवि या महाकवि रहे हों, किन्तु संस्कृत काव्य के पल्लवन में उनका योगदान तो इससे सिद्ध हो ही जाता है। सदुक्तिकर्णामृत में विशिष्ट कविप्रशंसा के अन्तर्गत एक पद्य में 'दाक्षीपुत्र' का उल्लेख हुआ है, जो संभवत: पाणिनि का ही संकेत करता है-
"सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारो न रमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्।
विशुद्धोक्तिं सूर: प्रकृतिमधुरा भारविगिर :,
तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते।। "2
डॉ. बलदेव उपाध्याय ने पाणिनि के काव्य की सरसता एवं माधुर्य के प्रतिपादन के संदर्भ में निम्नांकित पद्यों को भी पाणिनि के जाम्बवतीजयम् से उद्धृत किया है—
"निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो,
'मुखं निशायामभिसारिकायाः।
धारानिपातै: सह किन्नुवान्त-
श्चन्द्रोऽयमित्यार्त्ततरं ररास।।
ऐन्द्रं धनुः पाण्डु पयोधरेण,
शरद् दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं,
तापं रवेरभ्यधिकं चकार।
इनमें से द्वितीय पद्य को आनन्दवर्धन ने भी अपने ध्वन्यालोक में उद्धृत किया है किन्तु वहाँ यहं निर्देश नहीं है कि उन्होंने इस पद्य को कहाँ से लिया है। पाणिनि से पूर्व भी काव्यों का अस्तित्व था क्योंकि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में सूत्रों में प्रसंगवश तीन काव्यों का नामोल्लेख किया है ये काव्य थे - शिशुक्रन्दीय, यमसभीय तथा इन्द्रजननीय। ये काव्य चूँकि वर्तमान में उपलब्ध नहीं होते, नहीं इनके कोई उद्धरण प्राप्त होते हैं। पाणिनि के परवर्त्ती काव्यों में वररुचिकृत काव्य का उल्लेख पतंजलि ने अपने महाभाष्य में किया है तथा 'वाररुचं काव्यं' नाम से उसका संकेत भी किया है। भाष्यकार ने इन वररुचि को कात्यायन से अभिन्न माना है तथा भाष्य के प्रारंभ में कात्यायन के भ्राजश्लोकों की भी चर्चा की है। डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री ने "पतंजलिकालीन भारत' में लिखा है कि निश्चय ही ये श्लोक ग्रन्थरूप में रहे होंगे, जिसमें से भाष्यकार ने इन्हें उद्धृत किया होगा|2
आर्यमंजुश्रीमूलकल्प ने वररुचि को महापद्मनन्द का मंत्री बतलाया है तथा पाणिनि का मित्र बतलाया है—

"वररुचिर्नाम विख्यात: अतिरागो ह्यभूत्तदा।
नित्यं च श्रावके बोधो तस्य राज्ञो भविष्यति।।
तस्याप्यन्यतमः सख्य: पाणिनिर्नाम सत्कविः।" 1

इस उल्लेख से वररुचि एवं पाणिनि का कवि होना स्पष्ट है। भाष्यकार ने स्तोत्रश्लोकशती नामक काव्य का भी उल्लेख किया है। 2 पाणिनि ने श्लोकों द्वारा स्तुति करने के अर्थ में ण्यन्त प्रयोग 'उपश्लोकयति' का निर्देश किया है जिससे श्लोक रचना तथा पाणिनि काल में काव्य के अस्तित्व का पता चलता है। महाभाष्य में एक स्थल पर भाष्यकार ने यह संकेत किया है कि उस समय कवि लोग कभी-कभी व्याकरण के नियमों की उपेक्षाकर वैदिक प्रयोगों का व्यवहार काव्य में कर देते थे, किन्तु ऐसे प्रयोग दूषित मानते जाते थे-

"छन्दोवित्कवयः कुर्वन्ति। न ह्येवेष्टि:।' 4

डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री ने पतंजलि के महाभाष्य में प्रयुक्त उद्धरणों में काव्य के उदाहरण रूप में कतिपय पद्य प्रस्तुत किये हैं जिनमें से एक यहाँ द्रष्टव्य
है—

"बहूनामप्यचित्तानामेको भवति चित्तवान्।
पश्य वानरसैन्येऽस्मिन् यदर्कमुपतिष्ठते।।
मैवं मंस्था सचित्तोऽयमेषोऽपि स्याद्यथा वयम्।
एतदप्यस्य कापेयं यदर्कमुपतिष्ठति।।"5

उक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि पतंजलि के समय में श्रेष्ठ काव्य विद्यमान थे। कृष्णचरित काव्य में वररुचि द्वारा रचित काव्य का नाम स्वर्गारोहण प्राप्त होता है-

"यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः॥" "

सूक्तिमुक्तावली के लेखक ने स्वर्गारोहण के स्थान पर सदारोहण शब्द का प्रयोग किया है। सम्भवतः प्रमादवश वहाँ सदारोहण लिख दिया गया है। यह उल्लेख निम्न प्रकार है—

" यथार्थता कथं नाम्नि या भूद वररुचेरिह |
व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहण प्रियः।।"2

भाष्यकार पतंजलि के उपर्युक्त उल्लेख के सन्दर्भ में तत्कालीन संस्कृत काव्य विकास की स्थिति को स्पष्ट करते हुये डॉ. बलदेव उपाध्याय लिखते हैं- " ईस्वी पूर्व द्वितीय शतक में काव्य के नाना प्रकारों की रचनायें की जाती थीं तथा जनता में उनकी पर्याप्त लोकप्रियता तथा प्रसिद्धि थी। छन्द: शास्त्र के अनुशीलन से भी काव्य की प्राचीनता विशदरूपेण प्रमाणित होती है। इस काल में वैदिक छन्दों से लौकिक छन्दों का विकास तथा अभ्युदय गवेषणा का एक स्वतन्त्र विषय है, परन्तु नाना नवीन छन्दों की कल्पना अवश्यमेव तत्सम्बद्ध प्रचुर काव्य के निर्माण की ओर संकेत कर रही है। "3

काव्य में विविधरूपता का जन्म

संस्कृत काव्य श्रव्य काव्य के रूप में सुप्रचलित था। सर्वप्रथम महाभारत काल में नाट्य का प्रादुर्भाव हुआ, अतः दृश्यकाव्य भी अस्तित्व में आया। यद्यपि महाभारतकालीन नाट्यग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है तथापि महाभरत में 'सूत्रधार' शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है जिससे यह प्रमाणित हो जाता है कि उस काल में नाट्य का आविर्भाव हो चुका होगा। यह तथ्य निम्न प्रकार है-

"स्थपतिर्बुद्धिसम्पन्नो वास्तुविद्याविशारदः।
इत्यब्रवीत् सूत्रधार : सूत : पौराणिकस्तथा।।""

दृश्य काव्य के साथ-साथ श्रव्य काव्य की विद्यमानता का संकेत भी पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में किया है—

" पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयो:।"2

यहाँ पाणिनि ने नट्सूत्र का उल्लेख किया है जो संभवत: नाट्यविद्या का कोई सूत्रग्रन्थ रहा होगा। पाणिनिकाल की बौद्ध जातक कथाओं में भी नृत्य एवं अभिनय के युगपत् प्रयोग के उल्लेख अनेक स्थानों पर उपलब्ध होते हैं। अर्थशास्त्र का रचयिता कौटिल्य तथा कामसूत्रकार वात्स्यायन भी अपने समय में नाट्य की विद्यमानता के संकेत करते हैं।

वात्स्यायन के कामसूत्र की निम्नांकित पंक्ति यहाँ चिन्तनीय है—

" पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्या: भवने नियुक्तानां नित्यं समाज: । कुशीलवाश्चागन्तव: प्रेक्षणमेषां दद्युः ।3

भाष्यकार पतंजलि : भी कंसवध एवं बलिबन्ध नाटकों का उल्लेख करते हैं। भरतमुनि के समय तक नाट्य अर्थात् दृश्य काव्य ने श्रव्य काव्य की अपेक्षा प्रधानता की स्थिति प्राप्त कर ली थी, अतः भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र की रचना की।

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यभेद

संस्कृत काव्य शास्त्र में काव्यभेद की पृष्ठभूमि भरत से पूर्व पुराणकाल में ही विद्यमान थी। आदि आग्नेय महापुराण ने काव्य के दो भेद माने थे गद्य एवं पद्य। इनमें गद्य के पाँच भेदों का भी उल्लेख अग्निपुराण में उपलब्ध होता कथा खण्डकथा परिकथा कथानिका लघुकथा। इससे स्पष्ट होता है कि उक्त समय में काव्य भेदों का वर्गीकृत स्वरूप विद्यमान था, किन्तु अग्निपुराण में श्रव्य काव्य व उसके भेदों की चर्चा नहीं प्राप्त होती।

महाभारत के खिलभाग हरिवंशपुराण में हमें रामायण नाटक तथा कौबेर रम्भाभिसार नामक नाटक के अभिनय का उल्लेख प्राप्त होता है। 2 इससे यह स्पष्ट है कि पौराणिक काल में श्रव्य काल का ही सर्वाधिक महत्त्व था तथा भरतमुनि के काल में ही दृश्यकाल को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। यद्यपि इसका स्वरूप महाभारतकाल में विकसित हो चुका था।

इसी प्रकार यह भी स्पष्ट होता है कि पौराणिक काल में काव्य के शैली मतभेद ही शास्त्रज्ञों की दृष्टि के केन्द्र थे, जबकि परवर्त्तीकाल में स्वरूपगत भेदों को

महत्त्व दिया जाने लगा था।

संस्कृत काव्य शास्त्र के प्रथम आचार्य भामह काव्य के शैलीगत भेदों को ही अपेक्षित समझते थे अतः उन्होंने काव्य लक्षण के अनन्तर 'गद्यं पद्यं च तद्विधा' 3 कहकर काव्य भेदों के सन्दर्भ में अपना अभिप्राय व्यक्त किया। भामह के परवर्त्ती आचार्य दण्ड ने मिश्र नामक तृतीय भेद का भी प्रतिपादन किया—

" गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत्त्रिधैव व्यवस्थितम्। "4

दण्डी ने तीनों काव्य भेदों का नामोद्देश ही नहीं किया, उनके लक्षण भी प्रस्तुत किये, जो निम्न प्रकार हैं-

"अपाद: पदसन्तानोगद्यम्। "5

"स्याच्च पद्यं चतुष्पदी। ' 1

मिश्र भेद के सम्बन्ध में दण्डी का दृष्टिकोण गद्य पद्य के मिश्रित प्रयोग से है जो या तो नाट्य को लक्षित करता है या फिर चम्पू को किन्तु दण्डी ने इस संदर्भ में स्पष्ट रूप से किसी एक को स्वीकार नहीं किया है।

गद्य के परम्परागत भेदों को ही दण्डी स्वीकार करते हैं किन्तु प्रथम बार उन्होंने पद्य के चार भेदों की चर्चा की है, जिस पर कुछ अंशों में अग्निपुराण का प्रभाव लक्षित होता है-

"मुक्तकं कुलकं कोष : संघात इतितादृश:। "2

दण्डी के परवर्ती आचार्य वामन ने सर्वप्रथम गद्य के भेदों का प्रतिपादन किया। उन्होंने गद्य के तीन भेद बतलाये - वृत्तगन्धि, चूर्णक तथा उत्कलिका प्राय - " गद्यं वृत्तगन्धिः चूर्णकमुत्कलिका प्रायं च।

पद्य काव्य के भेदों में से मुक्तक का विवेचन करते हुये दण्डी ने उसे प्रबन्ध काव्य का अंग बतलाया था। इससे यह लक्षित होता है कि दण्डी अवश्य ही प्रबन्ध काव्य से परिचित थे और यह प्रबन्ध काव्य महाकाव्य ही था। क्योंकि प्रबन्ध काव्य के रूप में दण्डी ने महाकाव्य का ही लक्षण प्रस्तुत किया है। पद्य के भेदों में प्रबन्ध काव्य की गणना न करने के पीछे दण्डी का यही लक्ष्य हो सकता है, कि वे पद्य के प्रकृतिमूलक भेद ही बताना चाहते थे।

बाद में रुद्रट आदि आचार्यों ने प्रबन्ध काव्य को काव्य भेदों में ही स्वीकार कर लिया, तथापि विश्वनाथ जैसे आचार्य ने भी पद्य के प्रकृतिगत भेदों का पृथक् से उल्लेख किया है। उन्होंने पद्य के पाँच भेद स्वीकार किये हैं- मुक्तक, युग्मक, सांदानितक कलापक एवं कुलक-

"छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।
द्वाभ्यां तु युग्मकं सांदानितकं त्रिभिरिष्यते।।
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम्।"

इसी प्रकार दर्पणकार ने गद्य के दण्डीप्रतिपादित तीन भेदों के स्थान पर चार भेद स्वीकार किये। उन्होंने गद्य में भी मुक्तक प्रकृति वाले भेद को मान्यता प्रदान की-

"वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम्॥"2

साहित्यदर्पण के कर्त्ता विश्वनाथ से पूर्व काव्यमीमांसा के कर्त्ता आचार्य राजशेखर ने मुक्तक के पाँच भेद प्रतिपादित किये थे- शुद्ध चित्र, कथोत्थ, संविधानक एवं आख्यानक। किन्तु दर्पणकार ने इनको अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं समझा। इस प्रकार विश्वनाथ के समय तक काव्य के अनेक भेद प्रचलित हो गये थे। श्रव्यकाव्य की श्रेणी में विश्वनाथ ने मुक्तक को अनिबद्ध काव्य श्रेणी में स्वीकार कर प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य एवं खण्डकाव्य को मान्यता प्रदान की।

काव्य की भेदकता के सन्दर्भ में शैलीभेद एवं स्वरूप भेद के अतिरिक्त भाषा भेद एवं विषयभेद भी महत्त्वपूर्ण आधार रहे थे। भाषा के आधार पर भामह ने संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश तीन काव्यश्रेणियों की अपने काल में विद्यमानता स्वीकार की थी तथा इसी प्रकार विषय के आधार पर काव्य की चार कोटियों का भी निर्धारण किया था—

(1) ऐतिहासिक चरित्रप्रधान काव्य
(2) शास्त्रप्रधान काव्य
(3) कल्पित वस्तु वाले काव्य
(4) कलाप्रधान काव्य

भामह ने सृजन प्रवृत्ति के आधार पर काव्य को भी पाँच प्रकार का बतलाया था - सर्ग, अभिनेय, कथा, आख्यायिका, अनिबद्ध॥

भामह के इन उल्लेखों से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है उस समय काव्य को विविध दृष्टिकोणों से देखा एवं परखा जाता था। काव्यानुशासन के कर्त्ता हेमचन्द्र के समय तक काव्य की ओर विद्वानों की दृष्टि में कोई अन्तर नहीं आया, किन्तु आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना के साथ ही एक नवीन दृष्टिकोण प्रतिपादित किया। उन्होंने ध्वनि की विद्यमानता एवं प्राधान्य- अप्राधान्य को लक्ष्य मानकर ध्वनिकाव्य, गुणीभूत व्यंग्य एवं चित्रकाव्य नामक तीन कोटियों का निर्धारण किया| 2

ध्वनि प्रतिष्ठापक परमाचार्य मम्मट ने इन तीनों कोटियों में रसोत्कर्ष के बलाबल को मानदण्ड मानकर इन्हें प्रकारान्तर से उत्तम, मध्यम एवं अधम नाम से सम्बोधित किया—

" इदमुत्तममति शयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनि र्बुधैः कथितम्।"
"अतादृशि गुणीभूतं व्यङ्ग्यं व्यंग्ये तुमध्यमम्।"
" शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्॥ 3

मम्मट के उत्तरवर्त्ती आचार्य विश्वनाथं ने मम्मट के दृष्टिकोण की आलोचना तो की है, किन्तु मम्मट के मत को उन्होंने अस्वीकार नहीं किया है। उन्होंने भी अपने साहित्य दर्पण में इन कोटियों का लक्षणोदाहरण सहित प्रतिपादन किया है।

मम्मट के बाद इस दृष्टिकोण में व्यापकता का समावेश पण्डितराज जगन्नाथ ने किया। पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने रसगंगाधर में इन तीनों कोटियों के अतिरिक्त एक उत्तमोत्तम कोटि और स्वीकार की तथा उसे सर्वोपरि बतलाया। जिस काव्य को मम्मट ने उत्तम कहा था, वह पंडित राज के मत से उत्तमोत्तम काव्य है. जैसा कि इसके लक्षण में उन्होंने प्रतिपादित किया है—

" शब्दार्थो यत्र गुणीभावितात्मानौ कमाप्यर्थमभिव्यंक्तस्तदाद्यम्।"। गुणी भूतव्यंग्य काव्य अर्थात् मम्मट प्रतिपादित मध्यम काव्य पण्डितराज के मत में उत्तम काव्य है—

"यत्र व्यंग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कार कारणं तद् द्वितीयम्।"2

इसी प्रकार मम्मट जिस काव्य को अर्थचित्र कहते हैं, उसे पण्डितराज जगन्नाथ ने मध्यम काव्यं कहा है, तथा मम्मट प्रतिपादित शब्दचित्र काव्य को अधम
काव्य माना है.
“यत्र व्यंग्यचमत्कारसमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम्।
यत्रार्थचमत्कृतिशून्या शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम्॥
इस प्रकार देखा जाये तो पण्डितराज के प्रतिपादन में कोई नयी मान्यता नहीं है, प्रतिपादन के ढंग में ही नवीनता है। इन काव्यभेदों में भी गुणीभूतव्यंग्य के आठ भेदों को मम्मट विश्वनाथ एवं पण्डितराज तीनों ने स्वीकार किया है, जो काव्य की व्यापकता को लक्षित करने वाला उल्लेखनीय तथ्य है।

काव्य की व्यापकता ध्वनि, रसोत्कर्ष एवं व्यंग्यार्थ के आधार पर ही स्थिर नहीं रही काव्य का स्वरूप विषय एवं सृजनप्रवृत्ति के समानान्तर भी पर्याप्त व्यापकता को ग्रहण करता रहा। अतः मुक्तक काव्यों का महत्त्व न्यून होने लगा तथा प्रबन्ध काव्य का गौरव बढ़ने लगा। प्रबन्ध काव्य में महाकाव्य की सर्जना पर्याप्त महत्त्व का विषय मानी जाने लगी। यद्यपि खण्डकाव्य एवं काव्य की कवित्व के दीर्घकालिक इतिहास में सृजित किये जाते रहे।

महाकाव्य सर्जना में प्रारंभ में शास्त्रीय शैली का प्रचलन रहा, किन्तु बाद में मिश्र शैली को भी अपनाया जाने लगा। शास्त्रीय शैली का स्वरूप दोहरा था एक ओर कवियों ने रसप्रधानता के मार्ग को अपनाया तो दूसरी और लक्षणप्रधानता के मार्ग को। इसी प्रकार मिश्र शैली के अन्तर्गत कविपय काल तक ऐतिहासिक काव्यसर्जना का अवलम्बन लिया तथा तत्पश्चपात् उसमें पौराणिक एवं कथात्मक शैली को भी अपनाया जाने लगा।

संस्कृत सर्जना में महाकाव्य का उद्भव

संस्कृत वाङ्मय में सृजित महाकाव्यों का विश्वसाहित्य में विशिष्ट स्थान है। है महाकाव्य शब्द में ‘महा' विशेषण का प्रयोग प्रतिपाद्य के महत्त्व का सूचक है किन्तु तात्विक दृष्टि से स्वरूप की विशालता अथवा विस्तार को महाकाव्य का एकमात्र लक्षण नहीं कहा जा सकता अपितु इसमें अनेकानेक तत्वों का समावेश आवश्यक है इन तत्वों का अन्वेषण कर काव्यशास्त्र के आचार्यों ने उन मानदण्डों का अन्वेषण किया है जो महाकाव्य के लिए आवश्यक है।

महाकाव्य शब्द का प्राथमिक प्रयोग महर्षि वाल्मीकि द्वारा विरचित रामायण आर्षकाव्य के उत्तरकाण्ड में निम्न प्रकार प्राप्त होता है-
"किम्प्रमाणमिदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्मनः।
कर्ता काव्यस्य महत: क्व चासौ मुनिपुंगवः।।""
रामायण के उपर्युक्त उल्लेख में वाल्मीकि ने अपने काव्य को महाकाव्य बतलाया है। यहाँ 'किम्प्रमाणम्' शब्द से काव्याङ्गों की जिज्ञासा के संदर्भ में प्रकारान्तर से उपलक्षण प्राप्त होता है। वाल्मीकि रामायण के समान ही महाभारत में भी कतिपय ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनसे महाकाव्य के लिए आवश्यक काव्याङ्गों का निर्देश प्राप्त होता है। इस दृष्टि से महाभारत के निम्नांकित पद्य विचारणीय जान पड़ते हैं।
"कृतं मयेदं भगवन् काव्य परमपूजितम्।
ब्रह्मन् वेदरहस्यं च यच्चान्यत् स्थापितं मया
इतिहासपुराणाभ्यामुन्मेषं निर्मितं च यत्
काव्यस्य लेखनार्थाय गणेश : स्मर्यतां मुने।"
"अलंकृत शुभैः शब्दै सममैर्दिव्यमानुषेः।
छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम्॥ "2
महाभारत के उपर्युक्त उल्लेखों में महाकाव्य की रचना के लिए इतिहास, पुराण, अलंकार, परिष्कृत शब्द, छन्द आदि की आवश्यकता को बतलाया गया है। यद्यपि महाभारत में कवि ने अपनी रचना को 'काव्य' शब्द से ही कहा है किन्तु इस ग्रन्थ के अन्त में उल्लिखित " महत्वाद् भारतत्वाच्च महाभारतमुच्यते।" उक्ति द्वारा विषय एवं वस्तु की महत्ता, गम्भीरता एवं विशेषता का संकेत किया गया है तथा महा प्रयुक्त 'महा' विशेषण भी प्रकारान्तर से महाकाव्य का ही संकेत करता है। रामायण एवं महाभारत को पाणिनि से पूर्वकाल की रचना होने के कारण आर्षकाव्य

कहा जाता है। आचार्य विश्वनाथ ने इन दोनों महाकाव्यों के संदर्भ में आर्षसंज्ञा का सर्वप्रथम प्रयोग किया है तथा इनको महाकाव्य स्वीकार किया है-

" अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्यारव्यानसंज्ञकाः अस्मिन्महाकाव्ये यथा महाभारतम् ।"

आर्षरूप में स्वीकृत ये महाकाव्य वस्तुत: महाकाव्य के विकसित स्वरूप को प्रदर्शित करते है किन्तु इससे महाकाव्य के उद्भव एवं विकास का पता नहीं चलता फिर भी उपजीव्य महाकाव्य होने से इनका महत्त्व परवर्ती महाकाव्य सर्जन के आधार रूप में सर्वमान्य जान पड़ता है। महाभारत के रचयिता वेदव्यास के अन्त:करण में भावी महाकाव्य सर्जना का एक काल्पनिक चित्र विद्यमान था, अत: उन्होंने महाभारत के आदिपर्व में यह घोषण कर दी थी, कि यह आर्षकाव्य भावी कवियों के लिए उपजीव्य महाकाव्य होगा-

"इतिहासोत्तमादस्मात् जायन्ते कविबुद्धयः ।
सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति ।। " 2

चूँकि वर्तमान में आर्ष महाकाव्यों से पूर्व की महाकाव्य रचनाएँ अनुपलब्ध है अतः महर्षि वेदव्यास की उपर्यक्त घोषणा को उपलब्ध महाकाव्य सर्जना के उद्भव के बीज रूप में स्वीकार किया जाये तो अनुचित नही होगा। आर्षकाव्य में पुरुषार्थ- चतुष्ट्य काव्य का लक्ष्य था, जिसको विशेषकर साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने काव्य के प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है। इस पुरुषार्थ चतुष्ट्य प्रयोजन की स्वीकार्यता भी महाभारतकार वेदव्यास ने प्रतिपादित कर दी थी जैसा कि निम्नांकित पद्य से ज्ञात होता है -

"धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भारतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कर्हिचित् । । "३

सम्भवतः साहित्य दर्पणकार के काव्य सम्बन्धी प्रतिपादन पर महाभारत का प्रभाव रहा है। इसी प्रकार महाकाव्य के स्वरूप एवं लक्षण के निर्धारण के सम्बन्ध में भामह से लेकर विश्वनाथ तक जो भी अन्वेषण किया गया है । वह आर्षकाव्यों के प्रतिपाद्य पर आधारित जान पड़ता है । इस दृष्टि से आर्षकाव्यों की उन विशेषताओं को यहाँ जानना उचित होगा जिन्हें परवर्ती काल में महाकाव्य के लक्षण के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया गया ।

आर्ष महाकाव्यों की विशेषताएँ।

(1) युद्ध एवं संग्राम का वर्णन ।
(2) यात्रा वर्णन ।
(3) प्राकृतिक दृश्यों यथा नदी, पर्वत, समुद्र, वन इत्यादि के वर्णन ।
(4) नायक की विजय एवं प्रतिनायक की पराजय का चित्रण |
(5) नायिकाओं की योजना एवं नायक से संयोग वियोग का वर्णन |
(6) वाद-विवाद अथवा वाक् कलह का वर्णन ।
(7) मानवीय व्यवहारों का वर्णन ।
(8) आदर्श एवं यथार्थ का उपस्थापन ।
(९) सम्भवत: नायक का धीरोद्दात गुणों से समन्वित रूप में प्रदर्शित करना ।
(10) नायक के सम्पूर्ण जीवन के चित्रण को वर्ण्य विषय के रूप में स्वीकार करना।
(11) अधिकाधिक वर्णनात्मक एवं आंशिक संवादात्मक शैली का प्रयोग ।
(12) मूलकथा के अतिरिक्त उपकथाओं की योजना ।

महाकाव्य के लक्षणों का प्रतिपादन एवं विभिन्न आचार्यों के मत

आर्षकाव्यों के प्रतिपाद्य में प्राप्त उपर्यक्त विशेषताओं के आधार पर परवर्ती लक्षणग्रन्थकारों ने महाकाव्य के लक्षणों का प्रतिपादन किया इनमें प्रथम स्थान आचार्य भामह का है। भामह की काव्य सम्बन्धी उपकल्पना में काव्य के पाँच प्राकारिक भेद विद्यमान रहे है- सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा एवं अनिबद्ध। इनमें सर्गबन्ध' शब्द का प्रयोग 'महाकाव्य' के लिए अभिनेयार्थ शब्द का प्रयोग 'रूपक' के लिए, आख्यायिका एवं कथा का प्रयोग गद्यकाव्य के लिए तथा अग्निबद्ध शब्द का प्रयोग मुक्तक काव्य के लिए किया गया है।

महाकाव्य के लिए सर्गबन्ध शब्द का प्रयोग वाल्मीकि विरचित रामायण में सर्गों की आबद्धता को देखकर ग्रहण किया गया लगता है तथा जिन अन्य विशेषताओं को भामह ग्रहण करते हैं, उन पर आर्षकाव्य के प्रतिपाद्य के साथ-साथ आचार्य भरतमुनि द्वारा सृजित नाट्यशास्त्र का भी व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। भामह कृत महाकाव्य लक्षण निम्न प्रकार है—

" सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थं च सालंकारं सदाश्रयम्।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयं च यत्।
पंचभि संधिभिर्युक्त नानिव्याख्येयमृद्धिमत्।
चतुवर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत्।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।
नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया।
यदि काव्यशरीस्य न स व्यापितयेष्यते।
न चाभ्युदय-भाक्तस्य मुधादौ ग्रहणस्तथा। "

भामह के उपर्युक्त लक्षण में सर्गबन्ध, अलंकार प्रयोग, अग्राम्य शब्दार्थ का प्रयोग, मन्त्रणा, दूतकार्य, नायक का उत्कर्ष इत्यादि विषय रामायण के प्रतिपाद्य से प्रभावित है इसी प्रकार चतुर्वर्ग का अभिधान लोकस्वभाव का चित्रण इत्यादि ऐसे विषय है जो महाभारत से प्रभावित हैं। इसी प्रकार पंच सन्धियों का सन्निवेश तथा रस की योजना भरत के नाट्य शास्त्र से प्रभावित रहे हैं। भामह के उपर्युक्त लक्षण में महाकाव्य के लिए निम्नांकित तत्वों की उपादेयता स्वीकार की गई हैं—

(1) सर्गबद्धता
(2) महान् और गंभीर विषय
(3) उदात्त नायक
(4) चतुवर्ग का प्रतिपादन
(5) नायक का अभ्युदय
(6) सदाश्रितत्व
(7) पंच सन्धि, नाटकीय गुण
(8) लोकस्वभाव और विविध रसों की प्रतीति
(9) समृद्धि, चन्द्रोदय, ऋतुवर्णन आदि।

भामहकृत महाकाव्य के लक्षण की सबसे बडी विशेषता यह रही है कि उन्होंने इस लक्षण की प्रस्तुति विकसनशील आर्ष प्रबन्धकाव्यों को तथा नाट्यशास्त्र जैसे विशिष्ट लक्षण ग्रन्थों को दृष्टि में रखकर की है तथा इस लक्षण में वस्तु, नेता एवं रस तीनों का स्पष्ट निर्देश किया है, जो महाकाव्य के लिए वांछनीय ही नहीं अत्यन्त आवश्यक भी जान पड़ता है।

भामह के पश्चात् आचार्य दण्डी ने महाकाव्य का लक्षण प्रस्तुत किया। दण्डी के समय तक अनेक महाकाव्य भी लिखे जा चुके थे अतः दण्डी ने युग की

आवश्यकता को देखते हुए तथा साहित्य सर्जना के बढ़ते हुए आयाम को देखे हुए समन्वयात्मक एवं विश्लेषणात्मक लक्षण प्रस्तुत किया जो निम्न प्रकार है-

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्॥
इतिहास कथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।

चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्त नायकम् ।।
नगरार्णव- शैलर्तु-चन्द्रार्कोदयवर्णनैः ।
उद्यान-सलिल-क्रीडा- मधुपान - रतोत्सवैः ।।
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदय वर्णनैः ।
मंत्रदूत- प्रयाणाजि-नायकाभ्युदयैरपि ।।
अलंकृतमसंक्षिप्तं-रसभावं - निरन्तम् ।
सर्गरनतिविस्तीर्णौः श्रव्यवृतैः सुसन्धिभि ।।
सर्वत्र भिन्नवृतान्तैरूपेतं लोक रञ्जकम् ।
काव्यं कल्पनान्तरस्थायि जायेत सदलंकृति ।।

दण्डी कृत महाकाव्य के उपर्यक्त लक्षण में मंगलाचरण की आवश्यकता को प्रथम बार उपलक्षित किया गया है । सम्भवत: महाभारत के प्रथम पद्य को देखकर दण्डी ने इसकी आवश्यकता प्रतिपादित की है। प्रारम्भ में आशीर्वचन स्तुति अथवा नमस्कार या कथावस्तु का निर्देश भावी अमंगल के विनाश के लिए आवश्यक माना गया है। इसी प्रकार दण्डी ने वस्तुवैशिष्ट्य को भी इस लक्षण में समाहित किया है उनका कहना है कि महाकाव्य का प्रतिपाद्य ऐतिहासिक भी हो सकता है या फिर लोक प्रख्यात भी हो सकता है।

दण्डी के इस उल्लेख से अर्थापत्ति द्वारा यह ज्ञात होता है कि महाकाव्य की वस्तु योजना कदापि कवि कल्पित नहीं हो सकती है । प्रतिपाद्य के अन्य विषय

समकालिन महाकाव्य रचनाओं में प्राप्त वर्णनों के आधार पर संग्रहित किये गये लगते हैं। इसी प्रकार भिन्न वृत्तान्तों का उल्लेख कर दण्डी ने प्रथम बार आनुषंगिक कथाओं का संकेत किया है।

नायक एवं प्रतिनायक को लक्ष्य कर दण्डी ने महाकाव्य लक्षण के पर्यवसान में इस तथ्य का भी उल्लेख किया है, कि महाकाव्य में प्रतिनायक के भी उच्च वंश, शौर्य, विद्या आदि की प्रशंसा करनी चाहिए। क्योंकि इससे उन पर विषय प्राप्त करने वाले नायक का उत्कर्ष बढ़ता है।

आचार्य दण्डी से परवर्ती ग्रन्थकारों के ग्रन्थों में अग्निपुराण का नामोल्लेख किया जाता है यद्यपि कतिपय विद्वान् पुराणों का काल आर्ष काव्यों की रचना से पूर्व का होने के कारण अग्निपुराण को महाकाव्य सृजन से पूर्वकाल का स्वीकार करते हैं, किन्तु अग्नुिपराण में प्राप्त महाकाव्य के लक्षण से इस तथ्य का बोध होता है कि इसका काव्य-शास्त्रीय खण्ड कदापि पूर्वकाल की रचना नहीं हो सकता । अग्निपुराण के इस लक्षण पर दण्डी का प्रभाव व्यापक रूप से पड़ा है।

अग्निपुराण के महाकाव्य लक्षण के अनुसार महाकाव्य में सर्गबद्धता, छन्दोवैविध्य, ऐतिहासिक इतिवृत्त अथवा प्रख्यात कथानक एवं इसके साथ-साथ रीतियों, वृत्तियों एवं रसों का समावेश अनिवार्य रूप से होना चाहिए । नायक को पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति भी महाकाव्य में अनिवार्य रूप से दिखाई जानी चाहिए इसके साथ ही प्रतिपाद्य में नगर वन, पर्वत, चन्द्रोदय, सूर्योदय, जलक्रीड़ा इत्यादि के वर्णन अपेक्षित है। अग्निपुराणकार द्वारा महाकाव्य में रीति प्रयोग का उल्लेख करना अग्निपुराण के परवर्ती होने को ओर भी अधिक स्पष्ट कर देता है। क्योंकि रीति का प्रथम उल्लेख अप्रत्यक्ष रूप में दण्डी के 'काव्यदर्श' में ही हुआ है। अग्निपुराणकार ने 'वागवैद्ग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।' 2 कहकर रस की अपरिहार्यता का निर्देश किया है जो आचार्य भरत एवं दण्डी के मतों से प्रभावित जान पड़ता हैं ।

अग्निपुराण के पश्चात् उपलब्ध रुद्रट् कृत 'काव्यालंकार' में महाकाव्य का लक्षण दण्डी की अपेक्षा अत्यधिक व्यापक रूप में प्राप्त होता है, जो सम्भवत: तात्कालिक अनेकानेक महाकाव्यों का विश्लेषण कर लिखा गया प्रतीत होता है। रूद्रट् कृत महाकाव्य का लक्षण निम्न प्रकार है—

सन्ति द्विधा प्रबन्धाः काव्यकथाख्यायिकादयः काव्ये ।
उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयोपि ।।
तत्रोत्पाद्या येषां शरीरमुत्पादयेत्कविः सकलम् ।
कल्पितयुक्तोत्पत्तिं नायकमपि कुत्रचित्कुर्यात् ।।
पंजरमितिहासादि प्रसिद्धमखिलं तदेकदेशं वा ।
परिपूरयेत्स्ववाचा यत्र कविस्ते त्वनुत्पाद्याः ।।

तत्र महन्तो येषु च विततेष्वभिधीयते चतुर्वर्ग: ।
सर्वे रसाः क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि ॥
ते लघवो विज्ञेया येष्वन्यतमो भवेच्चतुर्वर्गात् ।
असमग्रानेकरसा ये च समग्रैकरसयुक्ताः ।।
तत्रोत्पाद्ये पूर्वं सन्नगरीवर्णनं महाकाव्ये ।
कुर्वीत तदनु तस्यां नायकुवंश प्रशंसा च ॥
तत्र त्रिवर्गसक्तं समिद्धशक्तित्रयं च सर्वगुणम् ।
रक्तसमस्तप्रकृतिं विजिगीषुं नायकं न्यस्येत् ।।
विधिवत्परिपालयतः सकलं राज्यं च राजवृतं च ।
तस्य कदाचिदुपेतं शरदादि वर्णयेत्समयम् ॥
स्वार्थं मित्रार्थं वा धर्मादिं सन्धायिष्यतस्यस्य ।
कृत्यादिष्वन्यतमं प्रतिपक्षं वर्णयेद् गुणिनम् ।।
स्वचरात्तद्धूताद्वा कुलोपि वा वर्णयतोऽरिकार्याणि ।
कुर्वीत सदसि राज्ञां क्षोभं क्रोधेद्धचित्रगिराम् ।।
संमन्त्र्य समं सचिवैर्निश्चित्य च दंडं साध्यतां शत्रोः ।
तं दापयेत्प्रमाणं दूतं वा प्रेष्येन्मुखम् ॥
अत्र नायकप्रयाणो नागरिकक्षोभजनपदातिदीन: ।
अटवीकानन सरसीमरूजलधिदीपभुवनानि ॥
स्कन्धावारनिवेशं क्रीडा यूनां यथायथं तेषु ।
सूर्यास्तमयं सन्ध्यां संततसमतोदयं शशिनः ।।
रजनी च तत्र यूनां समाजसंगीतपान-शृङ्गारान्।
इति वर्णयेत्प्रसंगात्कथ्ये च भूयो निबध्नीयात् ॥
प्रतिनायकमपि तद्वत्तदभिमुखममृष्यमाणमायान्तम् ।
योद्धव्यं प्रातरिति प्रबन्ध्यमधुपीति निशिकलत्रेभ्यः ॥
स्ववधं विशंकमानान्संदेशान्दापयेत्सुभटान् ।
सन्नह्य कृतव्यूहं सविस्मयं युध्यमानयोरुभयोः ॥
कृच्छ्रेण साधु कुर्यादभ्युदयं नायकस्यान्तम् ।
सर्गाभिधानि चास्मिन्नवात् प्रकरणानि कुर्वीत
संधीनपि संश्लिषस्तेषामन्योन्यसंबंधात् ।। '

रुद्रट के महाकाव्य लक्षण में रस की अपरिहार्यता के साथ-साथ रस की प्रधानता का भी उल्लेख किया गया है। सभी रसों के प्रयोग की बात भी कही गई है । अति प्राकृत तत्वों के होने पर भी अस्वभाविक घटनाओं का निषेध विशेष रूप से रुद्रट ने किया है। महाकाव्य के इस लक्षण से महाकाव्य की कृत्रिमता का संकेत नहीं प्राप्त होता अपितु रचनात्मक आदर्श की उपस्थापना का ध्येय ही उपलक्षित होता है। नायक के अभ्युदय अवान्तर कथाओं का मुख्य कथा में सहयोगी होना इत्यादि ऐसे विषय है जिनकी उद्भावना शास्त्रीय दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण रही है। इन सब नूतन तत्वों को देखते हुए रुद्रट कृत महाकाव्य लक्षण की कदापि उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

डॉ. केशव राव ने इस संदर्भ में लिखा है- "आचार्य रुद्रट की महाकाव्य की परिभाषा समन्वयात्मक एवं विश्लेषणात्मक होने पर भी स्वतन्त्र विचारों को अभिव्यक्त करने एवं महाकाव्यों को अनलंकृत रूप देने वाली होने के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

रुद्रट के पश्चात् विद्यानाथ ने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में तथा आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में महाकाव्य के लक्षण प्रस्तुत किये, किन्तु दोनों ही स्थलों पर दण्डी एवं रुद्रट के लक्षणों को संक्षिप्त एवं सारगर्भित बनाने की चेष्टा की गई है, जिसके परिणामस्वरूप ये लक्षण मौलिकता से रहित तथा केवल संकलन- पटुता के ही परिचायक कहे जा सकते हैं।

काव्यानुशासन के कर्ता हेमचन्द्र का वैशिष्ट्य केवल इस तथ्य के आधार पर स्वीकार किया जा सकता है, कि उन्होंने महाकाव्य के प्रतिपाद्य में वैचित्र्य नामक तत्व को महत्व प्रदान करने की चेष्ट की है, जैसा कि उनके निम्नांकित महाकाव्य के लक्षण से ज्ञातव्य है

पद्यं प्राय: संस्कृत प्राकृतापभ्रंश ग्राम्यभाषानिबद्ध भिन्नान्त्यवृत्तसर्गश्वास- संध्यवस्कन्धकबन्धं सत्संधि शब्दार्थे वैचित्र्योपेतं महाकाव्यम् छन्दोविशेषरचितं प्राय: संस्कृतादिभाषानिबद्धैर्भिन्नान्त्यवृत्तैर्यथासंख्यसर्गादिभिनिर्मितं सुश्लिष्टमुखप्रतिमुखगर्भ- विमर्शनिर्वहणसंधिसुन्दरं शब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम्।

आचार्य हेमचन्द्र के उपर्युक्त लक्षण में महाकाव्य संदर्भित चिन्तन का विकसित स्वरूप नहीं दृष्टिगोचर होता फिर भी इतना कहा जा सकता है कि कथानक देशकाल, पात्र चेष्टा तथा कथान्तर के अनुपसर्जन इत्यादि की दृष्टि से लक्षणकार ने रुद्रट द्वारा निर्धारित मापदण्डों में सृजित महाकाव्य के प्रतिपाद्य में जीवन एवं युग के व्यापक चित्र को अंकित करने का प्रयास किया है तथा लोक की अपेक्षा सर्जन को विशिष्ट बनाने का निर्देश दिया है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने भी प्रबन्ध काव्य के रूप में महाकाव्य-विषयक तथ्यों का ही उल्लेखनीय विवरण प्रस्तुत किया है, जिसमें पर्याप्त मौलिकता विद्यमान है। उन्होंने रसाभिव्यक्ति को महाकाव्य- सर्जना का केन्द्र मानते हुए इस संदर्भ में महाकाव्य के लिए निम्नांकित तत्वों की अपेक्षा को प्रातिपादित किया है—

(1) सुन्दर मूलकथा का निर्माण या निर्धारण,

(2) उस कथा का रसानुकूल संस्करण,

(3) कथा में अपेक्षित संधि तथा सन्ध्यंग की रचना,

(4) यथावसर रसों का उद्दीपन तथा प्रशमन एवं प्रधान रस का अनुसन्धान,

(5) शक्ति होने पर भी रसानुरूप अलंकारों की योजना।

आनन्दवर्धन के परवर्ती आचार्य कुन्तक ने हेमचन्द्र द्वारा प्रतिपादित वैचित्र्य एवं भामह द्वारा प्रतिपादित वक्रता का समन्वय करते हुए प्रबन्ध वक्रता का उल्लेख किया है इसमें यद्यपि महाकाव्य के लक्षण की प्रस्तुति तो नहीं की गई है किन्तु वक्रता एवं वैचित्र्य के माध्यम से महाकाव्य के सर्जनात्मक स्वरूप को श्रेष्ठतम बनाना कुन्तक का मूलभूत लक्ष्य रहा है। कुन्तक के पश्चात् सर्वाधिक प्रसिद्ध आचार्य विश्वनाथ कविराज ने परम्परागत मानदण्डों को स्वीकार करते हुए महाकाव्य लक्षण की प्रस्तुति की है।

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायक : सुर:।
सवंश: क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वित:।
एकवंशभवा भूपा: कुलजा बहवोऽपि वा।
शृंगार वीरशान्तानामेकोंऽगी रस इष्यते।।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्॥
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः॥
नातिस्वल्पा नातिदीर्घा : सर्गा अष्टाधिका इह।
नानावृत्तमय: क्वापि सर्ग : कश्चन दृश्यते।।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथाया: सूचनं भवेत्।
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनी प्रदोषध्वान्वासराः।।

प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः।
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः।।
रणप्रयाणोपयम-मन्त्र- पुत्रोदयादयः।
वर्णनीया यथायोग सांगोपांगा अमी इह||
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।
नाम्नास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु।।
अस्मिन्नार्षे पुन: सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञका।
छन्दसा स्कन्धकेनैतत्क्वचिद्गलितकैरपि।।
अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन् सर्गा: कुडवकाभिधाः।
तथापभ्रंशयोग्यानि छन्दांसि विविधान्यपि।।
भाषा-विभाषा-नियमात्काव्यं सर्गसमुज्झितम्।
एकार्थप्रवणै: पद्यै संधिसामग्र्यवर्जितम्॥ 326'

आचार्य विश्वनाथ कविराज का उपर्युक्त लक्षण पूर्ववर्ती दण्डी, रुद्रट, हेमचन्द्र, आनन्वर्धन, कुन्तक इत्यादि आचार्यों के लक्षणों का समन्वित परिवर्धित एवं व्याख्यात्मक स्वरूप है। इसमें मूलरूप से निम्न तथ्यों का महत्त्व स्वीकार किया गया है

(1) नायक का धीरोदात्त गुणों से युक्त होना एवं कुलीन होना।
(2) शृंगार वीर अथवा शान्त तीन रसों में से ही किसी एक रस का प्रधान होना।
(3) एक नायक अथवा अनेक नायकों की योजना।
(4) कम से कम 8 सर्गों की विद्यमानता।
(5) सर्गों के प्रतिपाद्य विषय का उचित सन्तुलन होना।
(6) प्रकृति चित्रण की वांछनीयता।
(7) अभिनेयता की दृष्टि से रस- योजना में रसों के साथ भावों का नैरन्तर्य।

विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त तथ्यों में अनेक तथ्य पूर्वाचार्यों द्वारा नहीं बतलाये गये थे, अत: नूतन रूप में मानदण्डों के निर्धारण को लेकर विश्वनाथ ने जिस लक्षण की उपस्थापना की है, वह पर्याप्त मौलिक कहा जा सकता है। आचार्य विश्वनाथ के पश्चात् अन्य किसी भी आचार्य ने महाकाव्य लक्षण के प्रस्तुतिकरण, संशोधन परिवर्धन आदि की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया अत: विश्वनाथ द्वारा किया गया लक्षण अन्तिम रूप से महाकाव्य के लक्षण रूप में स्थिरता को प्राप्त कर सका।

महाकाव्य लक्षणों की उपर्युक्त समालोचना के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि महाकाव्य सामान्य सर्जन नहीं है उसके मापदण्डों से उसका विशिष्ट स्वरूप अवश्यमेव प्रख्यापित होता है अतः इन लक्षणों के आधार पर भारतीय दृष्टिकोण से महाकाव्य के जिन प्रतिमानों का निर्धारण किया जा सकता है उन्हें अनुशीलनात्मक दृष्टि से निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है-

महाकाव्यसम्बन्धी भारतीय प्रतिमान

भारतीय आचार्यों द्वारा महाकाव्य के लक्षणों की जो प्रस्तुति की गई है उसमें महाकाव्य के प्रतिमान का जो विवरण प्राप्त होता है उसमें अधिकाधिक समानता विद्यमान है। प्राय: सभी आचार्यों ने विषमता को महत्व न देते हुए पुरातन लक्षणों के परिवर्धन एवं नूतन रूप में उपस्थापन को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। संक्षेप में महाकाव्य के ये प्रतिमान यहाँ निम्न रूप में वर्गीकृत किये जा सकते हैं-

(1) सर्गबद्धता - महाकाव्य विधा का सर्गों में विभाजन प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से अत्यावश्यक है इस तथ्य को भामह, दण्डी, अग्निपुराण के कर्ता वेदव्यास, 'सरस्वती कण्ठाभरण' के रचयिता भोजराज तथा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ एकमत से स्वीकार करते है। आचार्य रुद्रट ने सर्गबद्धता का उल्लेख नहीं किया है तथा आचार्य हेमचन्द्र ने सर्गबद्धता को शब्दवैचित्र्य के अन्तर्गत ही स्वीकार कर लिया है। संस्कृत एवं प्राकृत के महाकाव्यों में प्रतिपाद्य का विभाजन सर्गों में होना चाहिए, जबकि अपभ्रंश भाषा के महाकाव्यों में प्रतिपाद्य का विभाजन कुडवकों में

किया जाना चाहिए। ऐसा साहित्यदर्पणकार लिखते है । प्रायः वाल्मीकिरचित रामायण से लेकर आधुनिक काल के सर्जनशील महाकाव्यों तक सभी ग्रन्थों में सर्गयोजना उपलब्ध होती है, अतः यह सर्वसम्मत मानदण्ड के रूप में स्थिर हो गया है।

(2) मंगलाचरण- - महाकाव्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण के विषय को लेकर आचार्य भामह ने विशिष्ट निर्देश नहीं किया है किन्तु आचार्य दण्डी अपने काव्यादर्श में लिखते है कि महाकाव्य के प्रारम्भ में आशीर्वचन, नमस्कार अथवा वस्तुनिर्देश मंगलाचरण किया जाना चाहिए। 2 आचार्य रुद्रट ने मंगलाचरण का नामोल्लेख तो नहीं किया है किन्तु नायक के वंश की स्तुति के वर्णन का उल्लेख कर वे प्रकारान्तर से इसी तथ्य का संकेत करते है। आचार्य विश्वनाथ ने तीनों प्रकार के मंगलाचरण के साथ दुर्जननिन्दा एवं सज्जन - प्रशंसा को भी आवश्यक रूप से महाकाव्य के प्रारम्भिक प्रतिपाद्य के रूप में निर्दिष्ट किया है ।

(3) नायक की योजना — महाकाव्य घटना प्रधान हो अथवा चरित्रप्रधान, दोनों ही स्थितियों में नायक की योजना अत्यन्त आवश्यक है। भामह, दण्डी एवं रुद्रट ने नायक को धीरोदात्त, सद्वंशोत्पन्न, क्षत्रिय या देवता के रूप में आवश्यक बतलाया है। जिसका समर्थन दर्पणकार ने भी किया है । रुद्रट ने क्षत्रिय का उल्लेख न करके किसी भी वर्ण के धीरोदात्त व्यक्ति को नायक के रूप में ग्रहण करने का उल्लेख किया तथा दण्डी भी इसका समर्थन करते है । 4

आचार्य विश्वनाथ ने एकाधिक नायकों का भी उल्लेख किया है किन्तु समालोचकों की यह मान्यता रही है कि अनेक नायकों के होने पर महाकाव्य के प्राणभूत तत्व अन्विति की रक्षा सम्भव नहीं हो पाती अतः सामान्यतः एक नायक की अपेक्षा ही आहार्य है।' नायक के साथ-साथ रुद्रट ने प्रतिनायक की भी चर्चा की है। शास्त्रीय दृष्टि से प्रतिनायक के अभाव में नायक का उत्कर्ष चमत्कारपूर्ण नहीं होता तथा संघर्ष के अभाव में घटनाओं का घात-प्रतिघात भी सम्भव नहीं हो पाता। चूंकि संघर्ष एवं उत्कर्ष अन्योन्याश्रित तत्व हैं, अतः रुद्रट ने यह उल्लेख किया है कि प्रतिनायक को नायक के समान ही शक्तिशाली एवं गुण सम्पन्न होना चाहिए।

महाकाव्य के लक्षणकारों ने प्रायः नायिका के सम्बन्ध में उल्लेख करना अधिक उचित नहीं समझा । एकमात्र हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में नायिका की आवश्यकता का संकेत किया है। अतिरिक्त पात्रों की योजना का भी स्पष्ट निर्धारण महाकाव्य के लक्षणकारों ने नहीं किया है। कहीं-कहीं अप्रत्यक्ष रूप से मंत्री, दूत, सहायक, सैनिक, राजा-रानी, दास-दासी आदि का उल्लेख किया गया है, जो अन्य पात्रों की आवश्यकता को उपलक्षित करता है ।

4. कथानक योजना — मूलरूप में महाकाव्य के लक्षणकर्त्ता आचार्यो ने इतिहास पुराण एवं परम्परा की दृष्टि से कथानक का प्रख्यात होना आवश्यक स्वीकार किया है। महाकाव्य के कथानक में सम्पूर्ण अंकों के समावेश, क्रमबद्धता, एकान्विति एवं रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से पंचसन्धियों की अनिवार्यता स्वीकार की गयी है। 2 आचार्य रुद्रट ने महाकाव्य में ग्राह्य वस्तुयोजना के संदर्भ में लिखा है कि- सम्पूर्ण कथानक के आधार रूप में किसी एक विशिष्ट महत्वपूर्ण घटना का चित्रण अनिवार्य रूप से किया जाना चाहिए तथा उसकी गतिशीलता को बनाये रखने के लिए अप्रधान घटनाओं की योजना प्रावाहिक रूप में की जानी चाहिए। नायक के अभ्युदय की दृष्टि से यह तथ्य पर्याप्त चिन्तनीय है ।

5. वर्ण्य वस्तु - महाकाव्य के वर्ण्य विषय में जीवन के सभी दृश्यों, प्रकृति के विविध स्वरूपों तथा परिस्थितियों के परिवर्तन के अनुरूप मानवीय मनोभावों का चित्रण आवश्यक है अतः काव्यशास्त्र के आचार्यो ने महाकाव्य की वर्ण्य वस्तु के अन्तर्गत प्रातः काल इत्यादि प्राकृत दृश्यों, जलक्रीडा, आखेट, मद्यपान इत्यादि मनोविनोद के साधनों, युद्ध जैसी परिस्थितियों को प्रतिपाद्य के रूप में ग्राह्य माना है। दण्डी एवं विश्वनाथ ने वस्तु व्यापार की विस्तृत चर्चा की है। राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में सरसता की दृष्टि से इन विषयों के औचित्य का प्रतिपादन किया है—

'मज्जनपुष्पावचयनसन्ध्याचन्द्रोदयादिवाक्यमिह ।
सरसमपि नातिबहुलं प्रकृतरसान्वितं रचयेत् ।।
यस्तु सरित्सागरपुरतुरंगरथादिवर्णने यत्नः ।
कविशक्तिख्यातिफलो विततधियां नो मतः स इह ।। '

6. रसयोजना—रस महाकाव्य का मूलतत्व है, जिसका विधान भामह से लेकर विश्वनाथ तक सभी आचार्यों ने एक स्वर से किया है इनमें आचार्यों भामह ने 'रसैश्च सकलै पृथक्' लिखकर सर्वरस निष्पत्ति का उल्लेख किया है जिसका समर्थन रुद्रट ने भी अपने 'काव्यालंकार' में सर्वे रसाः 'समग्रैकरसयुक्ताः' कहकर किया है। आचार्य दण्डी अग्निपुराणकार एवं हेमचन्द्र ने सभी रसों के महत्व को स्वीकार किया है। आचार्य कुन्तक ने आनन्दवर्धन के भावों को ग्रहण करते हुए महाकाव्य में आदि से अन्त तक रस की निरन्तरता बने रहने का उल्लेख किया है—

"निरन्तररसोद्गार - गर्भसन्दर्भ-निर्भराः ।
गिर: कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ।।"

रस योजना की दृष्टि से आचार्य आनन्दवर्धन ने रसौचित्य के पूर्णतया निर्वाह को आवश्यक माना था तथा कुन्तक भी रस की निरन्तरता का उल्लेख कर उसी के संरक्षण की बात कहते हैं । विश्वनाथ ने रसौचित्य एवं रसनैरन्तर्य दोनों का समन्वय करते हुए सभी रसों की अभिव्यञ्जना को आवश्यक माना किन्तु शृंगार, वीर, शान्त में से किसी एक की प्रधानता को महाकाव्य में स्थिर कर दिया ।'

7. अलंकार योजना — काव्यशास्त्र के आचार्यों में भामह, दण्डी एवं हेमचन्द्र ने अलंकारों की आवश्यकता का पक्ष रखा है। अलंकार - प्रयोग के संदर्भ में वागवैदग्ध्य का उल्लेख करते हुए अग्निपुराण के कर्ता वेदव्यास ने अलंकारों की आवश्यकता के पक्ष का ही अनुमोदन किया है। 2 आचार्यो हेमचन्द्र ने भी चित्र - यमक-श्लेष आदि अलंकारों के प्रयोग का नामशः उल्लेख किया है, किन्तु रुद्रट एवं विश्वनाथ की दृष्टि अलंकारयोजना के पक्ष में नहीं दिखाई देतीं । सम्भवतः ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा अलंकारों की अप्रधानता को स्पष्ट कर देने के बाद विश्वनाथ ने इसकी आवश्यकता न समझी हो, किन्तु अलंकारों की अप्रधानता के उपरान्त भी स्वयं ध्वनिकार ने महाकाव्य में रसानुकूल अलंकार प्रयोग को सर्वाधिक आवश्यक माना है—

'''यदलंकृतीना शक्तावप्यानुरूपेण योजनम् ।
शक्तो हि कविः कदाचित् अलंकारनिबन्धने ।।
तदाक्षिप्त तथैवानपेक्षितसबन्धः प्रबन्धमारमते तदुपदेशार्यनिदमुक्तम्। दृश्यन्ते च कवचो अलंकार निबन्धनैक रसाः प्रबन्धेषु ।

8. छन्दयोजना – महाकाव्य का सर्जन छन्दोबद्ध रूप में ही होता है, अतः छन्दोरहित एवं गद्यविधा में महाकाव्य की सर्जना का निषेध समझना चाहिए। आचार्य भामह तथा रुद्रट ने महाकाव्य में छन्दः प्रयोग के विषय को अधिक चिन्तनीय नहीं समझा है, किन्तु अग्निपुराण के कर्ता ने प्रथम बार महाभारत में प्रयुक्त किये जाने वाले विशिष्ट छन्दों के नाम निर्दिष्ट किये हैं। इनमें शक्वरी, अतिशक्वरी, जगती, अतिजगती, त्रिष्टुप् एवं पुष्पिताग्रा का नामोल्लेख प्राप्त है। 4

आचार्य दण्डी ने प्रत्येक सर्ग में भिन्न वृत्त की अपेक्षा को दर्शाने के साथ- साथ इस तथ्य का उल्लेख किया है, कि महाकाव्य में गृहीत छन्द श्रुतिमधुर होना चाहिए। आचार्य हेमचन्द्र ने सर्गान्त में छन्दः परिवर्तन का उल्लेख किया है, जिसके बाद के आचार्यों ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने महाकाव्य में अर्थानुरूप छन्द की योजना पर सर्वाधिक बल दिया है । कतिपय समालोचकों ने इस उल्लेख को काव्य सामान्य के लिए उपर्युक्त स्वीकार किया है तथा आनन्दवर्धन को महत्व देते हुए रसानुकूल छन्दः प्रयोग का पक्ष उपस्थापित किया है। महाकाव्य-लक्षण की अन्तिम रूप में प्रस्तुति करने वाले आचार्य विश्वनाथ ने छन्दः प्रयोग के पारस्परिक तथ्यों को ग्रहण करने के पश्चात् दण्डी की मान्यता को दोहराया है तथा छन्द: प्रयोग के संदर्भ में अपवाद स्वरूप इस तथ्य का भी उल्लेख किया है कि कहीं- कहीं एक ही सर्ग में भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग भी किया जाता है।

9. भाषा - शैली – महाकाव्य में भाषा प्रयोग कैसा हो इस पक्ष पर कुछ ही आचार्यों का ध्यान केन्द्रित हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि काव्य में भाषा- प्रयोग का चिन्तन शब्द शक्ति के अन्तर्गत समाहित कर दिया गया है, अत: विद्वानों ने पृथक् से उसकी आवश्यकता को नहीं समझा है । कतिपय आचार्यों ने इसको बांछित मानते हुए विशिष्ट संकेत किये है उदाहरण के लिए भामह ने 'अग्राम्यनीतिक्लिष्टं नातिव्याख्येयम्' शब्दों द्वारा यह बतलाने की चेष्टा की है, कि महाकाव्य में ग्राम्य शब्दों का प्रयोग न हो, शाब्दबोध की क्लिष्टता न हो तथा विषय- विशेष की अत्यन्त व्याख्या की आवश्यकता न हो । तात्पर्य यह है कि महाकाव्य में प्रयुक्त भाषा सभ्य, सहज, सरल एवं बोधगम्य होनी चाहिए । यहाँ यह कहना उचित होगा कि महाकाव्य की रचना में भामह प्रासादिक प्रवृत्ति को अधिक महत्व प्रदान करते हैं। यद्यपि परवर्ती काल में अलंकृत शैली के महाकाव्यों की रचना में इस प्रवृत्ति का सम्भवत: उपेक्षित स्वरूप दृष्टिगोचर होता है ।

भाषा की भाँति ही शैली के विषय में भी विचार किया गया है। आचार्य वामन ने "क्रमसिद्धी तयो गुत्तंसवत' लिखकर यह प्रतिपादित किया है, कि महाकाव्य की पद्यरचना सामान्य रचना से विशिष्ट तथा एकान्विति क्रम में की गयी होनी चाहिए। आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रबन्धकाव्य की शैली में काव्य के सभी तत्वों को रसोपकारक बनाने का निर्देश किया है । रसानुगत रीति प्रयोग एवं संघटना को अपनाया जाना भी महाकाव्य की शैली का अन्यतम वैशिष्ट्य कहा जा सकता है।

10. उद्देश्य — महाकाव्य सर्जना का कोई निश्चित उद्देश्य अवश्य होना चाहिए | कवि की प्रतिभा सप्रयोजन हो, अतः काव्यप्रयोजन की चर्चा काव्य शास्त्र में हुयी है तथा महाकाव्य की रचना में भी वे ही प्रयोजन ग्रहण किये जा सकते है इनमें है पुरुषार्थ चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष में से किसी को भी उद्देश्य बनाया जा सकता है। आचार्य कुन्तक ने पुरुषार्थ चतुष्ट्य की अपेक्षा रससिद्धि को ही महाकाव्य का उत्कृष्ट उद्देश्य बतलाते हुए 'रससिद्धा: कवीश्वरा: ' उक्ति की चरितार्थता को अंकित करने का प्रयत्न किया है। 2

11. अवसान — महाकाव्य के कथानक का अवसान अथवा अन्त किस रूप में हो इस तथ्य पर भारतीय आचार्यों ने अधिक चिन्तन नहीं किया। आचार्य रुद्रट ने महाकाव्य के अन्त में नायक के अभ्युदय की कामना को प्रकट करने का औचित्य दर्शाया है। इसी प्रकार हेमचन्द्र ने रचना के संदर्भ में कवि के अपने भाव को पर्याप्त महत्व प्रदान किया है। कतिपय आचार्यों ने ग्रन्थान्त में मंगलाचरण की अपेक्षा को भी दर्शाया है।

12. प्रकृति चित्रण — महाकाव्य में नायक इत्यादि पात्रों की योजना के साथ-साथ उनके पारस्परिक वार्तालापों में अन्त: प्रकृति का तथा संदर्भित घटनाओं में वस्तु व्यापार एवं परिस्थितियों के चित्रण की आवश्यकता के अनुरूप तत्कालीन जन-जीवन के दृश्यों का अंकन अनिवार्य रूप से किया जाना चाहिए। बाह्य प्रकृति का चित्रण भी महाकाव्यों को अधिकाधिक कलात्मक बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। यही कारण है कि दण्डी आदि आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षण में प्राकृतिक उपादानों के यथोचित सन्निवेश तथा गत्यात्मकता के अनुरूप प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों एवं अप्रस्तुत विधानों की योजनाओं का उल्लेख किया है। इससे यह लक्षित होता है कि महाकाव्य में प्रकृति चित्रण की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

13. नामकरण — महाकाव्य के नामकरण का आधार क्या हो ? इस विषय में एकमात्र विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' में इस तथ्य का उल्लेख किया है कि महाकाव्य का नामकरण कवि, चरित्र अथवा चरित्रनायक के नाम पर होना चाहिए। ' आचार्य विश्वनाथ का यह उल्लेख चरित्रप्रधान काव्यों के संदर्भ में अधिक उचित जान पड़ता है। घटनाप्रधान महाकाव्यों में चरित्र की अपेक्षा प्रतिपाद्य एवं वस्तुवैशिष्ट्य का आधार बनाये जाने की उपेक्षा दृष्टिगोचर होती है।

इस प्रकार महाकाव्य सर्जन सम्बन्धी मानदण्डों के समालोचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि महाकाव्य विद्या साहित्य का एक विशिष्ट सृजित स्वरूप है जिसके सृजन की प्रवृत्ति एक दीर्घकालीन परम्परा के रूप में विद्यमान रही है। महाकाव्यों की सर्जनपरम्परा में प्राय: सर्जनकर्त्ताओं की प्रवृत्ति, पात्र, घटना, परिस्थिति एवं स्वानुभवमूलक अभिप्रायों को सरलतापूर्वक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने की रही है। इसके कारण परम्परागत महाकाव्यों का प्रभाव पर्याप्त रूप मे 'समृद्धि को प्राप्त करता रहा है। वर्तमान में लोकभावना में हो रहे सामाजिक परिवर्तन के कारण महाकाव्यों के प्रति सामान्य जनमानस का रुझान न्यूनता की ओर बढ़ रहा है, अतः महाकाव्य के सर्जन में भी शिथिलता का समावेश दिखाई देता है। उसे वर्तमान युग के चिन्तनीय विषय के रूप में देखा जाना मेरी दृष्टि में सर्वाधिक उचित होगा।

सन्दर्भग्रन्थाः

1. देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति (अथर्ववेद)
2. उतः त्व पश्यन् (ऋ. 10/71/4), प्र पर्वतानां (ऋ. 3 / 33 / 1), द्वा सुपर्णा (ऋ.1/124/7) इत्यादि।
3. ऋग्वेद (10/177/2)
4. वाक्यपदीय 1 / 12
5. पाणिनीय शिक्षा-6
6. वाक्यपदीय 1/84
7. साहित्यदर्पण 3/3
8. अथर्ववेद
9. अथर्ववेद 15/6/11
10. ऋग्वेद (8/32 / 1),
11. ऋग्वेद (1/4/34, 8/2/38)

12. संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास (डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी) पृ. 48
13. ऋग्वेद (2/34/6, 9/6/42, 10/64/3)
14. न्याय भाष्य (4 / 1 /61)
15. निरुक्त अ. 1, पा. 2 / पृ. 34-35